प्रथम मस्करण
१९५६

मूल्य—तीन रुपये

# प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। हमें संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राज-कार्यों में व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी में वाङ्मय के सभी अवयवों पर प्रमाणित ग्रंथ हों और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रंथों के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा-विभाग की अवधानता में एक हिन्दी परामर्श समिति की स्थापना की गयी है। यह समिति विगत वर्षों में हिन्दी के ग्रंथों को पुरस्कृत करके साहित्यकारों का उत्साह बढ़ाती रही है और अब उसने पुस्तक-प्रणयन का कार्य आरम्भ किया है।

समिति ने वाङ्मय के सभी अंगों के सम्बन्ध में पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पंचवर्षीय योजना बनायी गयी है जिसके अनुसार ५ वर्षों में ३०० पुस्तकों का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्रायः वे सब विषय ले लिये गये हैं जिन पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से प्राथमिकता उन्हीं विषय अथवा उन विषयों में दी जाय जिनकी हिन्दी में नितान्त कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह आशय नहीं है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही

ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते हैं जिनका प्रकाशन कतिपय कारणों से अन्य स्थानों से नहीं हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रों में सहायता प्राप्त होगी और भारती के भडार को परिपूर्ण करने में उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने मे समर्थ होगा।

भगवती शरण सिह
सचिव
हिन्दी परामर्श समिति

इद नम ऋषिभ्य· पूर्वजेभ्य पूर्वेभ्य पथिकृद्भ्य

(ऋग्वेद, १० १४ २५)

ऋषियो को, पूर्वजो को, पूर्ववर्ती पथप्रदर्शको को नमस्कार है

# लेखकों का प्राक्कथन

गणित के इतिहासकार अभी इस बात से अनभिज्ञ हैं कि प्राचीन काल के हिन्दू गणितज्ञों ने गणित के क्षेत्र में कहाँ तक उन्नति कर ली थी तथा हम उनके कितने ऋणी हैं। यद्यपि अब सामान्यत स्वीकार किया जाता है कि अक-सकेत-सम्बन्धी स्थान-मान सिद्धान्त का आविष्कार हिन्दुओं ने किया था और उन्होंने ही पहले पहल इसका प्रयोग किया था, तथापि इस बात का पूर्णतया अनुभव नही किया जाता कि अपने गणित के लिए हम उनके कितने ऋणी हैं। इसका कारण हिन्दू गणित के इतिहास का अभाव है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना का उद्देश्य प्राचीनतम ज्ञात काल से लेकर सत्रहवी शताब्दी पर्यन्त भारतीय गणित-शास्त्र की क्रमिक उन्नति का विस्तृत विवरण उपस्थित करके इस अभाव की पूर्ति करना है।

विषय का विवेचन प्रकरणो के अनुसार किया गया है। प्रत्येक प्रकरण के अन्तर्गत सस्कृत मे लिखे हुए हिन्दू गणित के ग्रथो मे उपलब्ध प्रासगिक उद्धरणो के अनुवादो का कालक्रमानुसार सग्रह किया गया है। आवश्यकता पडने पर व्याख्यात्मक और आलोचनात्मक टिप्पणियाँ देकर तथा सस्कृत ग्रथो मे दिये गये उदाहरणो को प्रस्तुत करके उनका स्पष्टीकरण भी किया गया है। अपने उद्देश्य की सगति को ध्यान मे रखते हुए जहाँ तक हो सका है पुनरुक्ति से बचने का प्रयत्न किया गया है। तथापि भारतवर्ष मे गणितीय विचारधारा एव पारिभाषिक शब्दावली की अविच्छिन्नता, विशेषकर उसके क्रमिक विकास, पर बल देने के हेतु अनेक अवसरो पर एक ही नियम की पुनरावृत्ति भिन्न-भिन्न लेखको के शब्दो मे की गयी है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से हमें कुछ ऐसे श्लोको और पारिभाषिक शब्दो के पूर्ण भावो पर प्रकाश डालने मे सहायता मिली है, जिनके अर्थ अब तक समझ मे नही आ सके थे। सस्कृत के उद्धरणो का अनुवाद

करने मे हमने यथासभव शाब्दिक तथा मूलानुगामी होने का प्रयत्न किया है और इस बात का ध्यान रखा है कि ऐसा करने मे मूल की आत्मा का हनन न हो।

पुस्तक की उपर्युक्त अवियोजना को ग्रहण करने मे हमारा ध्येय यह रहा है कि हम उन लोगो के समक्ष, जिनके लिए सस्कृत के स्रोत अगम्य है, प्रतिकूल और अनुकूल सभी प्रमाणो को उपस्थित करे ताकि वे हिन्दू गणित के अधिकारो के विषय मे केवल हमारे कथनमात्र पर ही निर्भर न रहकर स्वय अपना निर्णय कर सके। अन्य देशो मे की गयी गणित की उन्नति के साथ तुलना करने की सुविधा के लिए विभिन्न विषयो के विवेचन का वही क्रम रखा गया है जो प्रोफेसर डी० ई० स्मिथ कृत हिस्ट्री ऑव मैथेमेटिक्स मे मिलता है। ऐसा करने मे कभी-कभी हिन्दू गणित के ग्रथो मे उपलब्ध क्रम को बदलना भी पडा है।

पुस्तक के लिए सामग्री एकत्र करने मे हमे हिन्दुओ के विस्तृत साहित्य—गाणितिक और अगाणितिक, सस्कृत तथा प्राकृत (पाली और अर्धमागधी)—का परीक्षण करना पडा है। गणित से सम्बन्ध रखनेवाले हिन्दू ग्रथो मे से बहुत ही कम अब तक मुद्रित हुए है और जो मुद्रित भी हुए है वे भी सामान्य रूप से ज्ञात नही है। हस्तलिखित पुस्तके तो, जो भारतवर्ष तथा यूरोप के पुस्तकालयो मे उपलब्ध है, और भी कम ज्ञात है। इस प्रकार के अधिकाधिक ग्रथो का सग्रह करने मे हम लोगो ने कोई कसर उठा नही रखी है। सस्कृत के गाणितिक ग्रथो का, जिनकी चर्चा पुस्तक के अन्त मे दी हुई ग्रथानुक्रमणिका मे की गयी है, विशेषरूप से अध्ययन किया गया है। मद्रास, बगलौर, त्रिवेंद्रम, त्रिपुनित्थुरा, और बनारस मे स्थित पुस्तकालयो तथा इडिया आफिस (लन्दन) और एशियाटिक सोसायटी आव् बगाल (कलकत्ता) के पुस्तकालयो के अधिकारियो के हम कृतज्ञ है, जिन्होने हस्तलिपियो की प्रतिलिपियाँ भेजकर अथवा हस्तलिपियो को ही हमारे अध्ययनार्थ कुछ समय के लिए भेजकर हमारी सहायता की है। डाक्टर आर० पी० पराजपे के भी हम कृतज्ञ है जिन्होने भारतवर्ष के राजकीय पुस्तकालयो तथा इडिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय मे हस्तलिपियो अथवा उनकी प्रतिलिपियो को प्राप्त करने मे हमे सहायता प्रदान की है।

पूर्वगामी लेखको द्वारा किये गये प्रारम्भिक कार्य के बिना हमारा अध्ययन प्रस्तुत रूप मे सभव न था। ऐसे लेखको मे दिवगत पडित सुधाकर द्विवेदी (बनारस) का नाम अग्रगण्य है, जिनके द्वारा सपादित लीलावती, ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, त्रिशतिका, महासिद्धान्त, सिद्धान्त-तत्त्व-विवेक, इत्यादि ग्रथो के सस्करणो

मे हमे अत्यधिक सहायता मिली है। कोलब्रुक महोदय के ब्रह्मगुप्त और भास्कर द्वितीय कृत पाटीगणित एव बीजगणित के अनुवाद, कर्न महोदय द्वारा सपादित आर्यभटीय, रगाचार्य द्वारा सपादित और अनुवादित महावीर कृत गणित-सार-सग्रह मे भी हमे बहुत सहायता मिली है। तथापि जी० आर० के की हाल की कृति अत्यन्त अविश्वसनीय सिद्ध हुई है। उनका आर्यभटीय के गणितपाद का अनुवाद, और वक्षाली हस्तलिपि का सस्करण अशुद्धियो मे ओत-प्रोत है तथा भ्रामक है।

पुस्तक को तीन भागो मे प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है। प्रथम भाग अक-सकेत तथा अकगणित के इतिहास से सम्बन्ध रखता है। द्वितीय भाग बीजगणित पर है, जिसमे पूर्वकालीन हिन्दुओ ने असाधारण उन्नति की थी। तृतीय भाग मे क्षेत्रगणित, त्रिकोणमिति, कलन तथा कुछ अन्य विषयो, जैसे भद्र (मैजिक स्क्वायर) श्रेढी, क्रमचय और सचय, का इतिहास सग्रहीत है। प्रत्येक भाग अपने-अपने विषय मे पूर्ण है, अतएव विषय-विशेष मे रुचि रखनेवाले व्यक्ति को सब भागो को पढने की आवश्यकता नही है।

प्रथम भाग मे, जो प्रकाशित किया जा रहा है, दो अध्याय है। अध्याय १ में उन सब विधियो का वर्णन है जिन्हे हिन्दू लोग अको को सूचित करने के लिए प्रयोग मे लाते थे। अक-सकेत के दशमलव स्थान-मान पद्धति के क्रमिक विकास का अनुरेखण किया गया है तथा भारतवर्ष मे इस सिद्धान्त के प्रयोग से सम्बन्ध रखनेवाले सब प्रमाण प्रथम बार एकत्र किये गये है। इन पमाणो से विदित होता है कि यह पद्धति (यदि और पहले नही तो) ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो मे भारतवर्ष मे अवश्य प्रचलित थी। हमे आशा है कि जिन तथ्यो का इस अध्याय मे समावेश किया गया है उनमे इस पद्धति के उद्भव-स्थान-सम्बन्धी मतभेदो का सदैव के लिए अन्त हो जायगा। स्थानाभाव के कारण अरब, उत्तरी अफ्रीका, और यूरोप मे हिन्दू अको के प्रचार का विस्तृत वर्णन नही किया जा रहा है। तो भी सक्षेप मे वर्णन कर दिया गया है।

अध्याय २ का विषय अकगणित है। हम लोग जोडना, घटाना, गुणा, भाग, मूल निकालना, इत्यादि गणित के मौलिक परिकर्म करने मे इतने अभ्यस्त हो गये है कि इस बात का विचार ही नही करते कि इन नियमो का आविष्कार कब हुआ था। परन्तु गणित के अध्यापको तथा इतिहासकारो के लिए यह

विषय बडे महत्त्व का है। और जिस देश मे इन नियमो का उद्भव हुआ है वहाँ तो इनके विकास का वर्णन अवश्य ही स्वागत के योग्य है। उक्त परिकर्मो को पाटी पर करने की विभिन्न विधियो का, जिनका प्रयोग पाँचवी शताब्दी मे ही भारतवर्ष मे किया जा रहा है, हमने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। यह भी प्रदर्शित किया है कि आधुनिक काल मे प्रचलित विधियाँ प्राचीन हिन्दू विधियो के साधारण रूपान्तर-मात्र है। त्रैराशिक, कल्पना का नियम, व्याज, विनिमय तथा सुवर्ण सम्बन्धी नियम हिन्दुओ की देन है। वस्तुत सम्पूर्ण प्रारम्भिक गणित हिन्दुओ से आरम्भ होता है। अतएव अध्याय २ के महत्त्व के सम्बन्ध मे जो भी कहा जाय अतिशयोक्ति न होगी।

जिन स्रोतो से सहायता ली गयी है उनका उल्लेख टिप्पणियो मे कर दिया गया है। विशेष सहायताप्रद पुस्तको मे से बूलर कृत इंडियन पैलियोग्रैफी और ओझा कृत भारतीय प्राचीन लिपिमाला के नाम उल्लेखनीय है।

लखनऊ
सितम्बर, १९३५

बिभूतिभूषण दत्त
अवधेशनारायण सिह

# भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक डा० विभूतिभूषण दत्त और डा० अवधेश नारायण सिह के सुविख्यात ग्रथ 'हिस्ट्री ऑव हिन्दू मैथेमेटिक्स' के भाग १ का हिन्दी अनुवाद है। हिन्दू गणित के इतिहास पर इस समय हिन्दी मे कोई ग्रथ नही है, आशा है कि इस पुस्तक के प्रकाशन से इस अभाव की पूर्ति होगी।

अनुवाद करने मे इस बात का ध्यान रखा गया है कि विषय शुद्ध और स्पष्ट हो और जहाँ तक सम्भव हो मूल के अनुरूप हो। अतएव उन स्थलो का अनुवाद करने मे जो अँगरेजी सस्करण मे अनुवाद के रूप मे उद्धृत थे, मूलग्रथो का आश्रय लिया गया है। इस प्रकार सस्कृत के गाणितिक ग्रथो के उद्धरणो का अनुवाद उन ग्रथो के सस्कृत-मूल पर आधारित है। लेटिन भाषा के कुछ उद्धरण जो अँगरेजी सस्करण में ज्यो के त्यो दे दिये गये थे, इस पुस्तक मे हिन्दी मे अनुवादित कर दिये गये है।

डा० दत्त और सिह की पुस्तक का प्रकाशन आज से लगभग २० वर्ष पूर्व हुआ था। इन २० वर्षो मे हिन्दू गणित के इतिहास के सम्बन्ध मे हमारे ज्ञान मे यद्यपि कोई विशेष प्रगति नही हुई है, तो भी कुछ नवीन बाते ज्ञात हुई है। इनमे से जो आवश्यक और प्रासगिक समझ पडी, प्रस्तुत पुस्तक मे सम्मिलित कर ली गयी है। यहाँ पर केवल वसुमित्र (१०० ई०) के उस उद्धरण की ओर ध्यान आकर्षित करना उचित होगा जो शान्तरक्षित-कृत 'तत्व-सग्रह' पर कमलशील की टीका मे मिला है। इस उद्धरण मे दार्शनिक विषय को स्पष्ट करने के लिए दृष्टात के रूप मे दशमलव स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है, जिसमे यह निश्चित रूप मे सिद्ध होता है कि प्रथम शताब्दी के अन्त तक दशमलव स्थान-मान का भारतवर्ष मे इतना अधिक प्रचार हो चुका था कि दार्शनिक लोग अपने विषय के प्रतिपादन मे निधडक होकर इसका प्रयोग करने लगे थे। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य के लिए मै श्रद्धेय स्वामी विद्यारण्य (भूतपूर्व डा० विभूतिभूषण दत्त) का ऋणी हूँ जिन्होंने मेरा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था।

कहीं-कहीं पर मूल की बातों में कुछ हेर-फेर किये गये हैं। उदाहरणार्थ वर्गमूल और घनमूल की प्राचीन हिन्दू प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण में कुछ आवश्यक सुधार किये गये हैं। पुस्तक में प्रयुक्त ग्रंथकारों के काल में भी कुछ संशोधन किये गये हैं, जैसे भास्कर प्रथम का समय ६२९ ई० कर दिया गया है जो भास्कर प्रथम के 'आर्यभटीय-भाष्य' का रचनाकाल है। इस प्रकार की कुछ अन्य बातों में भी अन्तर मिलेगा।

पुस्तक हिन्दी भाषी संसार के लिए लिखी गयी है, अतएव अभारतीय विद्वानों के नाम तथा अहिन्दी पुस्तकों और पत्रिकाओं के नाम, जिनका पुस्तक में उल्लेख हुआ है, हिन्दी में दिये गये हैं।

इस पुस्तक के सम्बन्ध में मुझे कई मित्रों से सहायता मिली है, उन्हें धन्यवाद प्रदान करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष होता है। अपने गुरु डा० गोरखप्रसाद जी का मैं विशेषरूप से कृतज्ञ हूँ जिनसे मुझे कई प्रकार की सहायता प्राप्त हुई है।

कृपाशङ्कर शुक्ल

# विषयानुक्रमणिका

## अध्याय १

## अक-सकेत

पृष्ठ

१ प्राचीन भारतवर्ष की एक झलक १

२ हिन्दू और गणित-शास्त्र .. . ३

गणित की प्रशमा—हिन्दुओ की शिक्षा मे गणित का स्थान

३ हिन्दू गणित और उसका विकास ५

४ अक-सम्बन्धी परिभाषाएँ .. ७

अक-सकेत का आधार—अक-स्थान—बोलचाल की भाषा मे अक

५ अक-सकेत का विकास .. १३

प्राचीन भारत मे लेखन-क्रिया—प्राचीनतम अक

६ खरोष्ठी के अक १८

प्रारम्भिक उपलब्धि—आकार और उत्पत्ति

७ ब्राह्मी के अक २२

प्रारम्भिक उपलब्धि और आकार—अक-सकेतो से अतर—उनकी उत्पत्ति मे सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्त—अक्षर-सकेत मे सम्बन्ध—इन्द्रजी का मत—आविष्कार का समय—साराश

८ दशमलव स्थान-मान पद्धति ३४

महत्त्वपूर्ण लक्षण—आकार—नागरी लिपि के आकार—पुरालेख सम्बन्धी उदाहरण—उपर्युक्त लेखो की कल्पित अविश्वसनीयता—नवीन पद्धति के आविष्कार का स्थान—आविष्कारक अज्ञात— आविष्कार का समय

९ प्राचीन पद्धति का अन्त ४७

१० शब्दाक पद्धति ४८

पद्धति का वर्णन—शब्दाको की सूची—स्थान-मान के बिना

शब्दांकों का प्रयोग—शब्दांक पद्धति में स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग—पुरालेखों में शब्दांक—उत्पत्ति और प्रारम्भिक इतिहास—आविष्कार का समय

११ अक्षर-संकेत ५८

आर्यभट प्रथम का अक्षर-संकेत—नियम का स्पष्टीकरण—कटपयादि पद्धति—अक्षरपल्ली—अन्य अक्षर पद्धतियाँ

१२ शून्य का सांकेतिक चिह्न ७०

प्रारम्भिक प्रयोग—शून्य का आकार—शून्य-सूचक चिह्न के अन्य प्रयोग

१३ भारतीय साहित्य में स्थान-मान संकेत ७६

जैन आगम ग्रन्थ—पुराण—दार्शनिक ग्रन्थ—साहित्यिक ग्रन्थ

१४ स्थान-मान सिद्धान्त के आविष्कार का समय ८१

१५ अरब में हिन्दू-अंक ८३

१६ यूरोप में हिन्दू-अंक ८६

बैथिअस समस्या—निश्चित प्रमाण

१७ हिन्दू अंकों के विविध उल्लेख ९०

सीरिया के उल्लेख—अरब के उल्लेख—हिन्दसा आदि शब्द—यूरोपीय उल्लेख

१८ सारिणी ९९

## भाग २

## अंक-गणित

१ सामान्य निरीक्षण ११७

परिभाषा और विस्तार—उपलब्ध ग्रन्थ—लेखन और अध्यापन—गणित की अवनति—मौलिक परिकर्म

२ संकलित १२३

परिभाषा—करण—क्रम विधि—उत्क्रम विधि

३ व्यवकलित १२५

परिभाषा—करण—क्रम (या अनुलोम) विधि—उत्क्रम विधि

४ गुणन १२६

परिभाषा—गुणन की विधियाँ—कपाट-सन्धि विधि—पश्चिम मे प्रवेश—गेलोसिया विधि—तिर्यक्-गुणन विधि—स्थान-खण्ड गुणन—गोमूत्रिका विधि—रूप-खण्ड गुणन—बीजीय विधि

५ भाग १४२

परिभाषा—करण—भाग की विधि

६ वर्ग १४७

परिभाषा—करण—वर्ग करने की गौण विधियाँ

७ घन १५४

परिभाषा—करण—घन निकालने की गौण विधियाँ

८ वर्गमूल १६०

परिभाषा—करण

९ घनमूल १६५

परिभाषा—करण

१० क्रिया की शुद्धता की परीक्षा १७१

११ भिन्न १७५

प्रारम्भिक प्रयोग—नाप और तौल—परिभाषा—भिन्नो का लेखन—भिन्नो का अपवर्तन—भिन्नो का समच्छेदीकरण—मिश्र भिन्न—निरुद्ध—परिकर्माष्टक—सकलित और व्यवकलित—गुणन—भाग—वर्ग और वर्गमूल—घन और घनमूल—एकाशक भिन्न

१२ त्रैराशिक . .. १९३

परिभाषा—करण—व्यस्त त्रैराशिक—त्रैराशिक की प्रशसा—पश्चिम के देशो मे त्रैराशिक—मिश्रानुपात—विधि—त्रैराशिक, दशाविशेष के रूप मे

१३ व्यावसायिक प्रश्न २०६

प्राचीन भारत मे व्याज—हिन्दू गणित मे व्याज—वर्ग-समी-

करण पर प्रश्न—व्याज सम्बन्धी विविध प्रश्न—वस्तुओं का विनिमय—अन्य प्रकार के व्यावसायिक प्रश्न

१८ विविध प्रश्न २१७

इष्टकर्म—विलोम-विधि—मिश्रण सम्बन्धी प्रश्न वर्ग-समीकरण पर प्रश्न—अज्ञात राशि के वर्ग पर प्रश्न

१९ शून्य गणित २२४

अंकगणित में शून्य—बीजगणित में शून्य—परमाल्प राशि के रूप में शून्य—अनन्त—अनिर्णीत स्वरूप

ग्रंथानुक्रमणिका २३३

## अध्याय १

# अंक-संकेत

### १. प्राचीन भारतवर्ष की एक झलक

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास का विद्यार्थी हिन्दुओं की उस विस्मयजनक उन्नति को देखकर विमुग्ध हो जाता है जो उन लोगो ने, कला और विज्ञान दोनो क्षेत्रो मे, अत्यन्त प्राचीन काल मे सुसम्पादित कर ली थी। मोहेनजो-दडो मे (पुरातत्त्व सम्वन्धी खुदाई के फलस्वरूप) किये गये अनुसन्धानो से पता चलता है कि ईसा के लगभग ३००० वर्ष पूर्व सिन्धु देश के निवासी, हिन्दू लोग, ईंटो के मकान वनाते थे, नगरो का नियोजन करते थे, सोना, चाँदी, ताँबा और जस्ता आदि धातुओ का प्रयोग करते थे, तथा अत्यन्त सुव्यवस्थित जीवन व्यतीत करते थे। प्राचीनतम उपलव्ध ग्रन्थ, वेद (लगभग ३००० ई० पू०, अथवा सम्भवत इससे अधिक प्राचीन), यद्यपि विशेषकर देवताओ के गुणगान अथवा वन्दना-मात्र है, तो भी उच्च सभ्यता के द्योतक है। वेदो के बाद का ब्राह्मण साहित्य (लगभग २००० १००० ई० पू०) अशत धार्मिक और अशत दार्शनिक है। इन ग्रन्थो मे आध्यात्मिक, सामाजिक, एव धार्मिक दर्शन की भली भाँति विकसित पद्धतियाँ तथा आधुनिक सभ्यता के निर्माण मे सहायता प्रदान करनेवाली अधिकाश कलाओ और विज्ञानो के बीज दृष्टिगोचर होते है। और इन्ही ग्रन्थो मे ही हमे गणित (अकगणित, क्षेत्रगणित और बीजगणित आदि) तथा गणित ज्योतिष का श्रीगणेश मिलता है। इस ब्राह्मण काल के बाद लगभग २००० वर्ष से कुछ अधिक समय पर्यन्त भारतवर्ष अविच्छिन्न उन्नति एव महत्त्वपूर्ण कार्यो का क्षेत्र वना रहा। यद्यपि इस काल में अनेक विदेशी आक्रमण और आभ्यतरिक युद्ध हुए तथा वहुत से राज्यो का उत्थान एव पतन हुआ, परन्तु मानसिक उन्नति मे कोई विच्छिन्नता नही आने पायी। इसका श्रेय विशेषकर हिन्दू समाज की व्यवस्था को है। विदेशी आक्रमणकारी वाधक नही सिद्ध हुए, वरन् नया रक्त

जोडकर उन्होने हिन्दू समाज को अधिक शक्तिशाली बनाया और उन्नति मे योग दिया। वे भारतवर्ष की भूमि मे बस गये, विजित लोगो के धर्म एव रीति-रिवाजो को उन्होने अपनाया, यहाँ तक कि हिन्दू समाज मे वे पूर्ण रीति मे घुल-मिल गये। उस समय कुछ लोग, जो ब्राह्मण कहलाते थे, ऐसे थे जिन्होने निर्धनता स्वीकार की और पीढी दर पीढी विज्ञान और कला, धर्म एव दर्शन की उन्नति की ओर अपने को सलग्न किया। ब्राह्मणो की नि.स्वार्थता एव बुद्धिमत्ता के कारण राजाओ और जन-साधारण मे उनका विशेष आदर था। वे शास्त्रकार थे तथा राजाओ के सलाहकार थे। वास्तव मे राज्य-प्रबन्ध की बागडोर ऐसे ही नि स्वार्थी एव विद्वान लोगो के हाथ मे थी।

लगभग १०००-६०० ई० पू० मे आदिकवि वाल्मीकि ने रामायण महाकाव्य की रचना की, लगभग ७०० ई० पू० मे वैयाकरण पाणिनि ने सस्कृत व्याकरण को सुसम्पन्न किया, और ६०० ई० पू० के लगभग सुश्रुत ने आयुर्वेद तथा शल्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे।[1] सौ वर्ष बाद महावीर और गौतम बुद्ध ने धर्म एव नीतिशास्त्रो तथा निर्वाण मार्ग का उपदेश किया। इन धर्मों के फैलते ही जैन और बौद्ध साहित्य का विकास हुआ। पहले के कुछ पुराण और धर्मशास्त्र प्राय इसी समय लिखे गये थे। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि ४०० ई० पू० से लग कर ४०० ईसवी तक का समय महत्त्वपूर्ण कार्यों तथा उन्नति का युग था। इसी काल मे जैन तत्त्वज्ञानी उमास्वाति, वैयाकरण एव दार्शनिक पतञ्जलि, राजनीतिज्ञ कौटिल्य, रसज्ञ नागार्जुन, वैद्य चरक, एव अमरकवि अश्वघोष, भास और कालिदास उत्पन्न हुए। इसी समय सौर, पैतामह, वासिष्ठ और पाराशर आदि ज्योतिष के महान् सिद्धान्तो की रचना हुई, और दशमलव स्थान-मान सकेत परिष्कृत किया गया।

## २ हिन्दू और गणित-शास्त्र

**गणित की प्रशसा**

कहा जाता है कि प्राचीन भारतवर्ष मे किसी विज्ञान ने न तो स्वाधीन अस्तित्व ही प्राप्त किया और न उसका स्वतन्त्र रूप मे विकास ही हुआ। वैदिक-

[1] इस अनुच्छेद के अन्तर्गत वर्णन किये गये प्रागैतिहासिक ग्रथो तथा व्यक्तियो के काल के सबध में अत्यधिक मतभेद है। हमने वही काल दिये है जो सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होते है।

कालीन भारत मे जिस किसी विज्ञान का जो कुछ भी मिलता है, उसकी उत्पत्ति और विकास किसी न किसी वेदाग के अन्तर्गत, और इसलिए वैदिक क्रियाओ के सहायतार्थ, माना जाता है। कभी-कभी यह भी कल्पना की जाती है कि वैदिक-कालीन हिन्दू लोग किसी विज्ञान की विशेष उन्नति को निरुत्साहित करते थे, यह समझकर कि वह, उनकी चित्तवृत्ति को अन्य मार्गों की ओर ले जाकर, उनकी ब्रह्म-ज्ञान की खोज मे बाधक सिद्ध होगी। वस्तुत यह धारणा सर्वथा सत्य नही है। कदाचित् यह सत्य है कि प्रारम्भिक वैदिक काल मे विज्ञानो का विकास इसलिए हुआ कि वे धर्म मे सहायक थे। परन्तु साधारणतया यह देखा गया है कि प्रत्येक काल और पत्येक देश मे लोगो का किसी ज्ञानविशेष मे अनुराग सदैव कुछ विशेष कारणो से ही हुआ है। प्राचीन हिन्दुओं का अधिकतर समय धर्म-कर्म मे व्यतीत होता था। अतएव यह अस्वाभाविक नही है कि अन्य विषयों का ज्ञान उसी के सहायतार्थ बढा और उसी के अन्तर्गत रखा गया। यह दिखाने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि समय पाकर सभी विज्ञान अपने मूल उद्देश्य का अतिक्रमण कर गये और उनका स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ। इसमे सन्देह नही कि वैदिक काल के उत्तरार्ध मे एक नवीन धारा वह निकली।

छादोग्य उपनिषद्[1] मे एक कथानक है जिसका महत्त्व हमारी धारणा की पुष्टि के लिए बडे मूल्य का है। कथानक इस प्रकार है—किसी समय नारद, सनत्कुमार ऋषि के पास गये और उनसे ब्रह्म विद्या पढाने की प्रार्थना की। सनत्कुमार ने नारद से पूछा कि वे कौन-कौन सी विद्याएँ पहले ही से पढे है, जिससे वे विचार कर सके कि उन्हे अब क्या पढना शेष रहा है। इस पर नारद ने उन सब विद्याओ को गिनाया जो वे पढ चुके थे। इस सूची मे नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष) और राशि-विद्या (अकगणित) भी सम्मिलित है। इससे स्पष्ट है कि गणित का ज्ञान, अथवा कोई अन्य लौकिक ज्ञान, आध्यात्मिक ज्ञान मे बाधक नही समझा जाता था। वस्तुत उस काल में लौकिक ज्ञान (अपरा-विद्या) को आध्यात्मिक ज्ञान (परा-विद्या) का सहायक अग समझते थे।[2]

जैनो ने भी गणित की उन्नति को महत्त्व प्रदान किया था। उनका धार्मिक साहित्य साधारणत चार भागो मे विभक्त है, जो अनुयोग कहलाते है।

[1] छादोग्य उपनिषद्, ७ १, २, ४।
[2] मुण्डकोपनिषद्, १ १,३-५।

उनमे मे एक गणितानुयोग है। मख्यान (अकविद्या, अर्थात् अकगणित और ज्योतिप) का ज्ञान जैन मुनियो की मुख्य सावना वतलायी गय है।[1] वौद्ध साहित्य मे भी अकगणित (गणना, सख्यान) को प्रमुख एव श्रेष्ठतम कला माना गया है।[2] इन सवसे भली भाँति अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन भारतवर्ष में गणित की उन्नति को कितना महत्त्व और मूल्य प्राप्त था।

गणित की प्रशसा मे निम्नलिखित कथन यद्यपि वहुत वाद का है तो भी मनोरजक सिद्ध होगा, विशेपकर इसलिए कि वह अपने समय के श्रेष्ठतम गणितज्ञ महावीराचार्य की लेखनी से अवतरित हुआ है

"लौकिक, वैदिक, तथा सामयिक जो जो व्यापार है उन सवमे गणित (सख्यान) का उपयोग है। कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, गान्धर्वशास्त्र (गायन), नाट्यशास्त्र, पाकशास्त्र, आयुर्वेद, वास्तुविद्या आदि वस्तुओ मे, छन्द, अलकार, काव्य, तर्क, व्याकरण इत्यादि म, तथा कलाओ के समस्त गुणो मे गणित अत्यन्त उपयोगी है। सूर्य आदि ग्रहो की गति (को ज्ञात करने) मे, ग्रहण मे, ग्रहो की युति मे, प्रश्न ('दिक्, देश और काल' को ज्ञात करने) मे, चन्द्रमा के परिलेख म, मर्वत्र गणित अगीकृत है। द्वीपो, समुद्रो और पर्वतो की सख्या, व्यास और परिधि, लोक, अन्तर्लोक, ज्योतिर्लोक, स्वर्ग और नरक के रहनेवाले सवके श्रेणी-वद्व भवनो, सभा भवनो एव गुम्वदाकार मन्दिरो के प्रमाण तथा अन्य विविध प्रमाण गणित की सहायता से ही जाने जाते है। वहाँ पर प्राणियो के सस्थान, उनकी आयु और आठ गुण इत्यादि, यात्रा आदि तथा सहिता आदि से सम्वन्ध रखने वाले विषय, सभी गणित पर निर्भर है। अधिक कहने से क्या प्रयोजन ? सचराचर त्रैलोक्य मे जो कुछ भी वस्तु है उसका अस्तित्व गणित के विना सभव नही हो सकता।

"कृतार्थ, पूज्य और जगत के स्वामी तीर्थंकरो की शिष्य प्रशिष्यात्मक प्रसिद्ध गुरुपरपरा मे आये हुए सख्यानरूपी समुद्र मे से — समुद्र से रत्न की भाँति, पाषाण से काचन की भाति तथा शुक्ति से मुक्ताफल की भाति — कुछ सार निकालकर,

[1] भगवती-सूत्र, सूत्र ९०, उत्तराध्ययन-सूत्र, २५ ७, ८, ३८।

[2] विनयपिटक, ओल्डनवर्ग द्वारा सपादित, जिल्द ४, पृष्ठ ७, मज्झिम-निकाय जिल्द १, पृ ८५, चुल्लनिद्देश, पृ १९९।

मैं गणितसारसग्रह (नामक) ग्रन्थ अपनी मति-शक्ति के अनुसार कहता हूँ, जो लघु होते हुए भी अनल्पार्थक है।"[1]

### हिन्दुओ की शिक्षा में गणित का स्थान

हिन्दुओ की शिक्षा का प्रारम्भिक काल ५ वर्ष की अवस्था से लेकर १२ वर्ष की अवस्था तक था। राजा-महराजाओ के लडको के लिए इसमे कुछ अन्तर था। अध्ययन के मुख्य विषय लिपि अथवा लेखा (वर्णमाला, लेखन और पठन), रूप (ड्र इग एव क्षेत्रगणित), और गणना (अकगणित) थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे लिखा है कि चूडाकर्म के बाद विद्यार्थी को लिपि (वर्णमाला) और सख्यान (अकगणित) सीखना चाहिए।[2] हाथीगुफा के अन्तर्लेख[3] से पता चलता है कि कलिग नरेश खारवेल ने अपने जीवन के नौ वर्ष (१६ वर्ष की अवस्था से लेकर २५ वर्ष तक की अवस्था तक) लेखा, रूप और गणना के अध्ययन मे व्यतीत किये थे। राजकुमार गौतम ने ८ वर्ष की अवस्था में अध्ययन प्रारम्भ किया था — "पहले लेखन सीखा था और उसके पश्चात अकगणित, जो (उस समय के) ७२ विज्ञानो और कलाओ मे सबसे अधिक महत्त्व के थे।"[4] जैन आगम-ग्रन्थो मे भी लेखा, रूप और गणना का उल्लेख मिलता है।[5]

## ३ हिन्दू गणित और उसका विकास

गणित शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'वह शास्त्र जिसमे गणना की प्रधानता है।' यह शब्द बहुत प्राचीन है और वैदिक साहित्य मे बहुतायत से मिलता है। वेदाग ज्योतिष नामक ग्रथ वेदाग-शास्त्रो मे इसे सबसे ऊँचा स्थान प्रदान करता है—'जिस प्रकार मयूरो की शिखाएँ एव नागो की मणियाँ (सबसे ऊँचे स्थान पर होती है) हैं, ठीक उसी प्रकार वेदाग-शास्त्रो मे गणित का

[1] गणित-सार-सग्रह, अध्याय १, श्लोक ९-१६।

[2] अर्थशास्त्र, आर० शाम शास्त्री द्वारा सपादित, १ ५, २, अँगरेजी अनुवाद, पृ० १०।

[3] हाथीगुम्फा ऐण्ड थ्री अदर इस्क्रिप्शस, भगवानलाल इद्रजी द्वारा सपादित, पृ २२।

[4] अन्तगड-दसाओ ऐण्ड अनुत्तरववाइय-दसाओ, एल० डी० बार्नेट-कृत अँगरेजी अनुवाद, १९०७, पृ०३०, देखिए भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र, सूत्र २११।

[5] उदाहरणार्थ, देखिए समवायाङ्ग-सूत्र, सूत्र ७२।

स्थान सबसे ऊँचा है।"[१] प्राचीन बौद्ध साहित्य मे तीन प्रकार के गणित का उल्लेख मिलता है (१) मुद्रा, (२) गणना और (३) सख्यान। इन तीनो का एक प्राचीनतम उल्लेख दीघ निकाय[२] म मिलता है। विनयपिटक,[३] दिव्यावदान[४] और मिलिन्दपञ्हो मे भी इनका वर्णन मिलता है। गणित के अर्थ मे सख्यान का प्रयोग अनेक प्राचीन ग्रथो मे मिलता है।[५] इतने प्राचीन काल मे गणित मे ज्योतिष भी सम्मिलित था, परन्तु क्षेत्रगणित कल्पसूत्र नामक अन्य विज्ञान के अन्तर्गत था।

लोगो का विचार है कि ईसवी सन् के आरम्भ के कुछ समय पहले हिन्दू गणित की जागृति का काल था।[७] इस जागृति का प्रभाव हिन्दू गणित के विस्तार पर विशेष रूप से पडा। ज्योतिष स्वतन्त्र विषय हो गया और क्षेत्रगणित इसका अग हो गया। प्रारम्भिक जागृति-काल मे हिन्दू गणित के अन्तर्गत ये विषय थे—परिकर्म, व्यवहार, रज्जु ("रस्सी", अर्थात् क्षेत्रगणित), राशि ("त्रैराशिक"), कलासवर्णन ("भिन्न सम्बन्धी परिकर्म"), यावत्तावत् ("जितना उतना", अर्थात् अज्ञात राशि का प्रयोग), वर्ग, घन, वर्गावर्ग ("चतुर्घात") तथा विकल्प ("क्रमचय और सचय")।[८]

[१] "यथा शिखा मयूराणा नागाना मणयो यथा।
तद्वद्वेदागशास्त्राणा गणित मूर्धनि स्थितम्॥" (वेदाग-ज्योतिष, श्लोक ४)

[२] १, पृ ५१।

[३] ४, पृ, ७।

[४] दिव्यावदान, ई० बी० कॉवेल तथा आर० ए० नील द्वारा सपादित, कैम्ब्रिज, १८८६, पृ ३, २६, और ८८।

[५] मिलिन्दपञ्हो, राइस डेविड्स-कृत अँगरेजी अनुवाद, ऑक्सफोर्ड, १८९०, पृ ९१।

[६] उदाहरणार्थ देखिए भद्रबाहु-कृत कल्पसूत्र, एच० याकोबी द्वारा सपादित, लाइपजिग, १८९७, भगवती-सूत्र, बम्बई, १९१८, पृ ११२, अर्थशास्त्र, १ ५ २।

[७] विभूतिभूषण दत्त, "दि स्कोप ऐण्ड डेवेलपमेंट ऑव हिन्दू गणित", इडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द ५, १९२९, पृ ४७९-५१२।

[८] "परिकम्म ववहारो रज्जु रासी कलासवन्ने य।
जावन्तावति वग्गो घनो ततह वग्गवग्गो विकप्पो त॥"
(स्थानागसूत्र, सूत्र ७४७)

इस प्रकार गणित शब्द सामान्य गणित के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा, मुद्रा और गणना इसकी परिधि के बाहर हो गये। गणित मे आनेवाली क्रियाओ को करने के लिए लेखन-सामग्री का प्रयोग अनिवार्य था। ये क्रियाएँ या तो पाटी पर खडिया से की जाती थी, अथवा पाटी पर धूल बिछाकर किसी नुकीली कलम से। इस प्रकार गणित के अर्थ मे पाटीगणित अथवा धूलीकर्म शब्दो का प्रयोग किया जाने लगा। आगे चलकर गणित का वह भाग जो अज्ञात राशि से सम्बन्ध रखता था बीजगणित कहलाने लगा। यह पृथक्करण सबसे पहले ब्रह्मगुप्त ने किया था, परन्तु उन्होने बीजगणित शब्द का प्रयोग नही किया। ब्राह्म स्फुट सिद्धान्त का वह अध्याय जो बीजगणित से सम्बन्ध रखता है, 'कुट्टकाध्याय' कहलाता है। श्रीधराचार्य ने पाटीगणित और बीजगणित को पृथक् माना है और उन पर भिन्न भिन्न ग्रन्थो की रचना की। पाटीगणित और बीजगणित का यह अन्तर परवर्ती लेखको ने यथावत् बनाये रक्खा।

प्राचीन भारत के गणित की स्थिति और विस्तार का साराश देकर अब हम प्रस्तुत विषय, अर्थात् 'गणित की विभिन्न शाखाओ के विकास और उन्नति' की ओर अग्रसर होते है। सबसे पहले हम हिन्दू गणित की गणना-पद्धति का विवेचन करे?

## ४ अक-सम्बन्धी परिभाषाएँ

**अक-सकेत का आधार**

यह निश्चित रूप मे कहा जा सकता है कि भारतवर्ष मे अत्यन्त प्राचीन काल मे गणना का आधार दस रहा है।[१] वास्तव मे, दस के अतिरिक्त किसी अन्य आधार के विस्तृत प्रयोग का कोई भी चिह्न सस्कृत साहित्य भर मे कही नही मिलता। यह भारतवर्ष की एक विशेषता है कि अत्यन्त प्रारम्भिक काल मे ही बडे बडे अको को सूचित करनेवाली सख्याएँ दृष्टिगोचर होती है। जबकि यूनानवालो के पास $१०^४$ ("मिरियड") और रोमन लोगो के पास $१०^३$ ("मिले") से बडी सख्याओ को व्यक्त करनेवाली कोई भी सज्ञा नही थी, प्राचीन हिन्दुओ के पास लगभग अठारह अको तक की

[१] इसके बहुत से उदाहरण ऋग्वेद में मिलते है, जिनका मैकडॉनल और कीथ ने सग्रह किया है, देखिये वेदिक इडेक्स, जिल्द १, पृ ३४३।

सख्याओ को सूचित करनेवाली सज्ञाएँ विद्यमान थी। आधुनिक युग में भी ससार के किसी देश की अक-सज्ञाएँ उतनी वैज्ञानिक एव पूर्ण नही है जितनी कि हिन्दुओ की है।

यजुर्वेद सहिता (वाजसनेयी)[1] मे निम्नलिखित अक-सज्ञाओ की सूची दी हुई है एक (१), दश (१०), शत (१००), सहस्र (१,०००), अयुत (१०,०००), नियुत (१,००,०००), प्रयुत (१०,००,०००), अर्बुद (१,००,००,०००), न्यर्बुद (१०,००,००,०००), समुद्र (१,००,००,००,०००), मध्य (१०,००,००,००,०००), अन्त (१,००,००,००,००,०००), और परार्ध (१०,००,००,००,००,०००)। यही सूची तैत्तिरीय सहिता मे भी दो स्थानो पर मिलती है।[2] मैत्रायणी[3] और काठक[4] सहिताओ मे भी यही सूची कुछ अतर के साथ मिलती है। पचविश ब्राह्मण मे न्यर्बुद तक यजुर्वेद की ही सूची है, न्यर्बुद के बाद निखर्व, वाडव, अक्षिति, इत्यादि सज्ञाएँ मिलती है। साख्यायन श्रौतसूत्र मे न्यर्बुद के बाद निखर्व, समुद्र, सलिल, अन्त्य, अनन्त (१,००,००,००,००,००,०००) आदि सज्ञाएँ दी है। इन सभी सज्ञाओ मे आगे वाली सज्ञा अपने पीछे वाली सज्ञा से दस गुनी अधिक है, इसलिए इन सज्ञाओ को 'दशगुणोत्तर सज्ञाएं'[6] कहते है।

आगे चल कर हम देखते है कि पाँचवी शताब्दी ईसवी पूर्व मे शतगुणोत्तर सज्ञाओ की वृद्धि के लिए कई प्रयत्न किये गये, जो सफल सिद्ध हुए। नीचे हम प्रथम शताब्दी ई० पू० मे लिखे गये सुप्रसिद्ध बौद्ध ग्रथ ललितविस्तार से गणितज्ञ अर्जुन और राजकुमार गौतम (बोधिसत्व) के सवाद को उद्धृत करते है, जिसमे इस शतोत्तर गणना पर प्रकाश पडेगा

'गणितज्ञ अर्जुन ने बोधिसत्व से पूछा—नवयुवक! क्या तुम कोटि के आगे की शतोत्तर गणना जानते हो?

[1] यजुर्वेद सहिता, १७ २।

[2] ४ ४० ११ ४, और ७ २ २० १।

[3] २ ८ १४, इस सूची में अयुत, प्रयुत के बाद पुन अयुत है, और उसके बाद न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्ध आते है।

[4] १७ १०, यह सूची भी पूर्ववत् है, केवल इतना अन्तर है कि नियुत और प्रयुत का स्थान-भेद हो गया है।

[5] १५ ११ ४।

[6] देखिए भास्कर द्वितीय-कृत लीलावती, पृ० २।

वोधिसत्व—हाँ, जानता हूँ।

अर्जुन—तो वताओ, कोटि के आगे की गणना किस प्रकार है?

वोधिसत्व—सौ कोटि, अयुत कहलाता है, सौ अयुत, नियुत, सौ नियुत, ककर, सौ ककर, विवर, सौ विवर, क्षोभ्य, सौ क्षोभ्य, विवाह, सौ विवाह, उत्सग, सौ उत्सग, वहुल, सौ वहुल, नागवल, सौ नागवल, तितिलभ, सौ तितिलभ, व्यवस्थान-प्रज्ञप्ति, सौ व्यवस्थान-प्रज्ञप्ति, हेतुहिल, सौ हेतुहिल, करहु, सौ करहु, हेत्विन्द्रिय, सौ हेत्विन्द्रिय, समाप्तलभ, सौ समाप्तलभ, गणनागति; सौ गणनागति, निरवद्य, सौ निरवद्य, मुद्रावल, सौ मुद्रावल, सर्ववल, सौ सर्ववल, विसज्ञागति, सौ विसज्ञागति, सर्वज्ञा, सौ सर्वज्ञा, विभुतगमा, सौ विभुतगमा, तल्लक्षणा।"[1]

दशगुणोत्तर और शतगुणोत्तर सज्ञाओ की एक मनोरजक सूची काच्चायनकृत पाली-व्याकरण[2] मे मिलती है। वह इस प्रकार है—

दशगुणोत्तर सज्ञाएँ

१० × दस=सत (१००)

१० × सत=सहस्स (१,०००)

१० × सहस्स=दस सहस्स (१०,०००)

१० × दस सहस्स=सत सहस्स[3] (१,००,०००)

१० × सत सहस्स=दस सत सहस्स (१०,००,०००)

१० × दस सत सहस्स=कोटि (१,००,००,०००)

[1] इस प्रकार तल्लक्षणा = $१०^{५३}$।

इस और आगे के कथन से विदित होता है कि आर्किमिडीज से अनेक शताब्दियो पहले हिन्दू लोग ऐसी अक-सज्ञाओ की श्रेणियाँ वनाने में सिद्धहस्त थे जो 'न केवल यही व्यक्त कर सकती थीं कि पृथ्वी-पिड के तुल्य वालू के ढेर में कितने वालू के कण होंगे, वल्कि यह भी कि सपूर्ण ब्रह्माण्ड के वरावर वालू के ढेर में कितने कण होंगे।'

देखिए, आर्किमिडीज-कृत ऑपेरा के १९५४ के सस्करण में 'डे हरेने न्यूमरो।' स्मिथ और कार्पिस्कीकृत 'हिन्दू-अरेविक न्यूमरल्स' (वोस्टन, १९११, पृ १६) में इसका उल्लेख किया गया है।

[2] देखो "ग्रामेर पाली डे काच्चायन", जर्नल एशियाटिक, छठी श्रेणी, जिल्द १७, १८७१, पृ ४११। इसमे सूत्र ५१ और ५२ की व्याख्या भी उद्धृत की गयी है।

[3] इसे लक्ख (लक्ष) भी कहा गया है।

कोटिगुणोत्तर सज्ञाएँ।

कोटि × कोटि=पक्कोटि[1]

कोटि × पकोटि=कोटिप्पकोटि

कोटि × कोटिप्पकोटि=नहुत

कोटि × नहुत=निन्नहुत

कोटि × निन्नहुत=अक्षोभिनि

इसी प्रकार विदु, अब्बुद, निरब्बुद अहह, अवव, अतत, सोगधिक, उप्पल, कुमुद, पुडरीक, पदुम, कथान, महाकथान, और असख्येय बनते है।[2]

अनुयोगद्वार-सूत्र[3] नामक जैन आगम मे, जो ईसवी सन् के आरम्भ होने के कुछ पहले लिखा गया था, ससार के जीवो की सख्या इस प्रकार बतलायी गयी है, "(लोक के जीवो की सख्या) कोटि-कोटि आदि सज्ञाओ की सहायता से (अको मे) व्यक्त करने पर २९ स्थान लेती है, अथवा यह सख्या उस अक सज्ञा से अधिक है जो २४ स्थान लेती है और उस अक-सज्ञा से कम है जो ३२ स्थान लेती है, अथवा यह वह सख्या है जो २ के छठे वर्ग (अर्थात् $२^{६४}$) को २ के पाँचवे वर्ग (अर्थात् $२^{३२}$) से गुणा करने पर प्राप्त होती है, अथवा यह वह सख्या है जो २ से ९६ बार विभाजित की जा सकती है।" जैनग्रथो मे मिलने वाली दूसरी बडी सख्या 'शीर्षप्रहेलिका' नामक काल को सूचित करती है। भाष्यकार हेमचन्द्र (जन्म १०८९ ई०) के मत मे यह सख्या इतनी बडी है कि १९४ स्थान लेती है। इसका मान $(८४,००,०००)^{२८}$ भी बतलाया गया है।

**अक-स्थान**

आगे चलकर जब स्थान-मान की भावना का विकास हुआ, अक-सज्ञाओ का प्रयोग अकस्थानो को सूचित करने के लिए किया गया। उदाहरणार्थ, आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) ने अक-सज्ञाओ को अक-स्थानो के अर्थ मे प्रयोग किया है। वे लिखते है,[4] 'एक (इकाई), दश (दहाई), शत (सैकडा), सहस्र (हजार), अयुत

[1] इसे कोटि-कोटि भी कहा गया है। इसका मान $(१०, ०००, ०००)^{२}$ अर्थात् $(१०)^{१४}$ है। देखिए अनुयोगद्वार-सूत्र, सूत्र १८२।

[2] इस प्रकार असख्येय का मान $(१०)^{१४०}$ अर्थात् $(१,००, ००,०००)^{२०}$ होता है।

[3] सूत्र १४२।

[4] आर्यभटीय, गणितपाद, श्लो २।

(दस हजार), नियुत (लाख), प्रयत (दस लाख), कोटि (करोड), अर्बुद (दस करोड), और वृन्द (अरब) स्थानो मे से प्रत्येक अपने पीछे वाले से दस गुना है।" अक-सज्ञा के अर्थ मे 'स्थान' शब्द का प्रयोग पहले पहल उपर्युक्त जैन ग्रथ मे मिलता है।

अधिकाश गणित ग्रथो मे अक-सज्ञाओ को 'स्थानो के नाम' कहते है, और प्राय अठारह स्थानो के नाम दिये रहते है। श्रीधर (ल० ७५० ई०) द्वारा दिये हुए नाम इस प्रकार है[1] 'एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, लक्ष, प्रयुत, कोटि, अर्बुद, अब्ज, खर्व, निखर्व, महासरोज, शकु, सरितापति, अन्त्य, मध्य और परार्ध।' महावीर (८५० ई०) ने २४ स्थानो के नाम दिये है जो इस प्रकार है[2] 'एक, दश, शत, सहस्र, दश सहस्र, लक्ष, दश लक्ष, कोटि, दश कोटि, शत कोटि, अर्बुद, न्यर्बुद, खर्व, महाखर्व, पद्म, महापद्म, क्षोणी, महाक्षोणी, शख, महाशख, क्षिति, महाक्षिति, क्षोभ और महाक्षोभ।'

भास्कर द्वितीय (११५० ई०) की सूची श्रीधर की सूची से मिलती है, अन्तर केवल इतना है कि 'महासरोज' और 'सरितापति' के स्थानो मे क्रमानुसार उनके पर्याय-वाचक 'महापद्म' और 'जलधि' का प्रयोग है। भास्कर ने लिखा है कि स्थानो का नामकरण पूर्वाचार्यो ने क्रियात्मक व्यवहार के लिए किया था।[3]

नारायण (१३५६ ई०) ने भी इसी प्रकार की एक सूची दी है, जिसमे 'अब्ज' के स्थान मे 'सरोज', 'महासरोज' के स्थान मे 'महाब्ज' और 'सरितापति' के स्थान मे 'पारावार' का प्रयोग किया गया है।[4]

## बोलचाल की भाषा में अक

एक से लेकर नौ तक अको को सस्कृत मे एक, द्वि, त्रि, चतुर, पञ्च, षट्, सप्त, अष्ट और नव कहते है। ये अक ऊपर दी हुई स्थान सज्ञाओ की सहायता से किसी भी सख्या को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त है। जब दो सख्याओ को जोड

[1] त्रिशतिका, सूत्र २-३। इन्हे 'दशगुणोत्तर सज्ञा' कहा गया है।

[2] गणित-सार-सग्रह १, ६३-६८।

[3] लीलावती, पृ २।

[4] यल्लय (१४८० ई०) ने आर्यभटीय की टीका में २९ अक-सज्ञाओ की एक सूची दी है, जिसकी पहली २४ सज्ञाएँ महावीर की सज्ञाओ से मिलती है। केवल इतना अन्तर है कि महावीर के 'शख' और 'महाशख' के स्थान में यल्लय ने 'क्षोणी' और 'महाक्षोणी' लिखा है, शेष पाँच अकसज्ञाएँ क्रम से 'परार्ध' 'सागर', 'अनन्त', 'चिन्त्य' और 'भूरि' है।

कर सख्या बनाने की पद्धति का प्रयोग किया जाता है, तब दोनों सख्याओं में से कोई भी पहले कही जा सकती है। अर्थात् एक-दश और दश-एक दोनों का एक ही अर्थ होगा। परन्तु स्मरणातीत काल से ही अव्यवस्थित कथन की अपेक्षा एक निश्चित क्रम को अनुसरण करने की प्रथा चली आ रही है।

सस्कृत भाषा में जिस क्रम का अनुसरण किया जाता है वह इस प्रकार है जब कोई सख्या केवल दो अकों की होती है, तब इकाई वाला अक पहले कहा जाता है और दहाई वाला उसके बाद, और जब कोई सख्या अधिक अकों की होती है, तब बड़े मानवाले अक पहले कहे जाते हैं और छोटे मानवाले अक क्रम से उनके बाद, परन्तु इकाई और दहाई वाले दो अकों को व्यक्त करने में पहली विधि का ही प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार, यदि किसी सख्या मे चार अक है, तो उसे पढने का सामान्य नियम यह होगा कि पहले हजार वाला अक पढा जाय और उसके बाद क्रम से सैकडा, इकाई और दहाईवाले। यह देखने की बात है कि सैकडे के आगे की सख्या सूचित करने के नियम मे आकस्मिक परिवर्तन देख पडता है। तथापि यह परिवर्तन ससार की प्राय सभी भाषाओं मे समान रूप से मिलता है।[1] इस आकस्मिक परिवर्तन का कोई निश्चित कारण नही प्रतीत होता।

१९, २९, ३९, ४९ इत्यादि सख्याएँ ऐसे उदाहरण है जिन्हे बोल-चाल की भाषा मे व्यक्त करने मे घटाने की पद्धति का प्रयोग होता है। वैदिक काल मे हम देखते है कि १९ के लिए 'एकान्नविंशति' (एक-कम-बीस) का और ३९ के लिए 'एकान्नचत्वारिंशत्' (एक-कम-चालीस) का प्रयोग होता था।[2] आगे चल कर (सूत्र काल मे) एकान्न शब्द एकोन मे बदल दिया गया था, और कभी-कभी उपसर्ग 'एक' का भी त्याग कर दिया गया था। इस काल मे ऊनविशति, ऊनत्रिशत् आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है जो आज तक प्रचलित है। नवदश, नवविशति आदि वैकल्पिक व्यजको का भी कभी कभी प्रयोग होता था।[3]

[1] केवल कुछ ही भाषाओं में अवरोही क्रम मिलता है। अँगरेजी भाषा में बीस तक की सख्याओं के उच्चारण में पहले इकाई और तब दहाई का प्रयोग होता है।

[2] तैत्तिरीय सहिता, ७ २ ११।

[3] नवदश=१९ (वाजसनेयी सहिता, १४ २३, तैत्तिरीय सहिता, १४. २३ ३०)।

नवविंशति=२९ (वाजसनेयी सहिता, १४ ३१)।

नवनवति=९९ (ऋग्वेद, १ ८४ १३)।

प्राय सभी सस्कृत साहित्य पद्य मे है, अतएव पद्य रचना की सुविधा के लिए सख्याओ को व्यक्त करने मे कई प्रकार की युक्तियो का सहारा लिया जाता था, जिन मे से सबसे अधिक प्रचलित जोडने का सिद्धान्त[1] था। नीचे हम, गणित के ग्रथो से, कुछ उदाहरण दे रहे है, जो सामान्य रूप से मिलते है --

| सख्या | व्यजक | | सिद्धान्त |
|---|---|---|---|
| १३९ | ४० × १०० − १ | चत्वारिशन्चैकोनशताधिक,[2] | योग-वियोग |
| २९७ | ३०० − ३ | त्रिहीनशतत्रय,[3] | वियोग |
| १८ | २×९ | द्विनवक,[4] | गुणन |
| २७ | ३×९ | त्रिनवक,[5] | गुणन |
| १२ | २×६ | द्विषट्,[5] | गुणन |
| २८,४८३ | ८३+४००+४०००×७ | त्र्यशीतिमिश्राणि चतुश्शतानि चतुस्सहस्रघ्ननगान्वितानि,[6] | योग-गुणन |

सख्या १२३४५६५४३२१ का व्यजक 'एकादिषडन्तानि क्रमण हीनानि'[7], अर्थात् 'वह सख्या जिसमे अक पहले १ से ६ तक क्रमश बढते है और तब उसी क्रम से घटते है' विशेष मनोरजक है।

जो अक 'अक्षराक' और 'शब्दाक' के नामो से प्रसिद्ध है, उनका प्रयोग बडी सख्याओ को व्यजित करने मे होता था। इन अको का विस्तृत विवरण आगे दिया जायगा।

## ५ अक-सकेत का विकास

### प्राचीन भारत में लेखन-क्रिया

सामान्य रूप से लोगो का विचार है कि अक सकेतो का आविष्कार लेखन-क्रिया के आरम्भ होने के कुछ समय बाद हुआ, और यह भी कि प्रारम्भिक

[1] त्रीणि शतानि त्रिसहस्राणि त्रिंश च नव च=३३३९ (ऋग्वेद, ३. ९. ९, १० ५२ ६)।
[2] गणितसार-सग्रह, १ ४।
[3] लीलावती, पृ ४, उदाहरण १।
[4] आर्यभटीय, २ ३।
[5] त्रिशतिका, उदाहरण ४३।
[6] गणित-सार-सग्रह १ ?८।
[7] गणित-सार-सग्रह, १ २७।

अवस्था मे अक पूरे-पूरे शब्दो मे लिखे जाते थे। बडी सख्याओ के विषय में यह धारणा सत्य प्रतीत होती है, परन्तु छोटी सख्याओ को व्यक्त करनेवाले सकेत उतने ही प्राचीन है जितनी कि स्वय लेखन-क्रिया।

लेखन-क्रिया भारतवर्ष मे कब प्रारम्भ हुई, इस सबध मे इतिहासकारो मे अभी हाल तक मतभेद रहा है। कुछ कहते थे कि वैदिक काल मे ही लोग लिखना जानते थे, परन्तु अधिकाश लोग जो वेबर, टेलर और बूलर आदि के अनुयायी थे इस मत के थे कि लेखन-क्रिया भारतवर्ष मे आठवी शताब्दी ईसवी पूर्व के आस पास पश्चिम से लायी गयी। इन लोगो के सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन भारतीय लिपि, जैसी अशोक के अन्तर्लेखो मे मिलती है, और भी अधिक प्राचीन उस लिपि से निकली है जो मिस्र और मेसोपोटामिया मे मिली है। सेमिटिक उत्पत्ति का अनुमान सबसे पहले सन् १८०६ ई० मे सर विलियम जोन्स ने किया था, और आगे चलकर क.प (१०२१ ई०), लेस्पियस (१८३४ ई०) आदि बहुतो ने इसका समर्थन किया था। फिर भी इस सिद्धान्त के माननेवाले पूर्णतया एकमत नही है, क्योकि एक ओर डब्ल्यू० डेके और आइ० टेलर भारतीय लिपि को दक्षिणी सेमिटिक लिपि से व्युत्पन्न मानते है, दूसरी ओर वेबर और बूलर इसे फिनिशियन अथवा किसी उत्तरी सेमिटिक लिपि से निकली हुई मानते है।[1] बूलर ने दक्षिणी सेमिटिक लिपि से की गयी व्युत्पत्ति का खण्डन किया है, इस आधार पर कि उसमे अत्यधिक अनुमानो की कल्पना करनी पडती है, और उसके साथ-साथ उसे विश्वसनीय बनाने के लिए अक्षरो मे अत्यधिक परिवर्तन करने पडते है। फिर भी उन्होने वेबर द्वारा उत्तरी सेमिटिक लिपि से की गई व्युत्पत्ति का समर्थन किया है, और उस सिद्धान्त का विस्तृत विवरण दिया है।[2] ओझा[3] ने बूलर के सिद्धान्त की परीक्षा विस्तार से की है, और उसे मनगढत एव सचाई के प्रतिकूल बताते हुए उसको अस्वीकार किया है। उन्होने बताया है कि फिनिशियन (उत्तरी सेमिटिक) लिपि के २२ अक्षरो मे से केवल एक ही अक्षर ऐसा है जो उच्चारण मे ब्राह्मी लिपि के एक अक्षर से सादृश्य रखता है। उन्होने दोनो प्रकार के अक्षरो की एक सारिणी देकर,

[1] विभिन्न लेखको द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो के साधारण अन्तर जानने के लिए, देखिए बूलर-कृत पैलियोग्रैफी, पृ ९, ये अन्तर टिप्पणियो में दिये गये है।।

[2] बूलर, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ ९ और उसके आगे।

[3] गौरीशकर हीराचन्द ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ १८-३१।

जिसमे समान उच्चारण वाले शब्द पक्तिवद्ध किये गये है, अपने तर्क की अत्यत मतोषजनक पुष्टि की है। उन्होने यह भी दिखाया है कि बूलर की रीति का अनुसरण करके कोई भी लिपि किसी भी अन्य लिपि से निकली हुई सिद्ध की जा सकती है।[1]

अन्य विद्वानो ने, जो यह मानते थे कि लेखन-क्रिया वैदिककाल जैसे प्राचीन काल से ही भारतवर्ष मे ज्ञात थी, अपने मत की पुष्टि साहित्यिक प्रमाणो के आधार पर की है। वसिष्ठ-धर्मसूत्र मे, जो मूलत ऋग्वेद की एक शाखा के अन्तर्गत था, कुछ ऐसे प्रमाण मिलते है जिनसे स्पष्टतया सिद्ध होता है कि वैदिक काल मे लेखन-क्रिया का प्रयोग होता था। वसिष्ठ (१६ १०, १४-१५) ने लिखित प्रलेखो का उल्लेख वैध प्रमाण के रूप मे किया है, और इनमे से पहला सूत्र किसी और भी प्राचीन ग्रथ अथवा परम्परागत ज्ञान का उद्धरण है। निम्नलिखित उद्धरण जिसमे अक ८ को लिखने का उल्लेख है स्वय ऋग्वेद (१० ६२ ७) का ही है, 'सहस्र मे ददतो अष्टकर्ण्य', अर्थात् 'मुझे ऐसी सहस्र (गायें) प्रदान करो जिनके कानो मे ८ लिखा हो।' इस अर्थ पर कुछ विद्वानो ने सदेह प्रकट किया है, परन्तु पाणिनि का समर्थन प्राप्त होने के कारण यह ठीक प्रतीत होता है।[2] ऐसा जान पडता है कि गौवो का अपने मालिक से सम्बन्ध सूचित करने के लिए उनके कानो मे अक लिखने की प्रथा का प्राचीन भारत मे पर्याप्त प्रचार था।[3]

[1] हाल में बहुतेरे अन्य विद्वानो ने बूलर की उत्पत्ति के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया है। देखिए भडारकर, "ऑरिजिन आव इडियन ऐल्फाबेट" सर आशुतोष मुकर्जी जुबिली वाल्यूम्स, जिल्द ३, १९२२, पृ ४९३, एच सी. रे, "दि इडियन ऐल्फाबेट" इडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द ३, १९२४, पृ २३३, और सर जॉन मार्शल, मोहेनजो-दडो ऐण्ड दि इडस सिविलाइजेशन, १९३१, पृ ४२४, जहाँ पर यह कहा गया है: "मुझे पूर्ण विश्वास है कि ब्राह्मी लिपि को सेमिटिक लिपि से निकली हुई सिद्ध करने के सभी प्रयत्न नितान्त असफल थे।"

[2] 'कर्णो वर्णलक्षणात्' (६ २ ११२) और (६ ३ ११५) से इस अर्थ को समर्थन मिलता है।

[3] अथर्ववेद (६ १४१) में कानो पर 'मिथुन' के चिह्न वनाने की रीति का उल्लेख है। (१२ ४-६) में इस प्रथा की निंदा की गयी है। मैत्रायणी सहिता में इस विषय पर एक स्वतत्र अध्याय है, ऐसे चिह्न वनाने की रीति का वर्णन ४. २. ९ में है।

ऋग्वेद मे एक अन्य स्थान पर (१० ३४) एक जुआरी का उल्लेख आया है जो अपने भाग्य पर रोता है और कहता है कि 'एक'[1] पर बाजी लगा कर हमने अपनी पतिव्रता स्त्री को खो दिया ।' अथर्ववेद (७ २५०, (५१), ५) मे 'लिखे हुए धन'[2] का उल्लेख है। पाणिनि (७०० ई० पू० के लगभग) की व्याकरण मे 'यवनानि' (अर्थात् 'सेमिटिक लेख'), 'लिपिकार' और 'लिबिकार' (लेखक)[3] शब्द आये है, जिनसे पता चलता है कि उनके समय मे लेखन-क्रिया ज्ञात थी। इन उल्लेखो के अतिरिक्त, वैदिक कालीन ग्रन्थो मे कुछ पारिभाषिक शब्द, जैसे अक्षर, काड (अध्याय), पटल, ग्रथ इत्यादि आये है जो उस समय लेखन-क्रिया का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए प्रमाण के रूप मे उद्धृत किये गये है। लिखित प्रलेखो के इन उल्लेखो का जब वैदिक कालीन उच्च सभ्यता, विशेषकर व्यापार तथा आर्थिक लेन देन के जटिल लेखा की उन्नत दशा, ब्राह्मण ग्रथो मे गद्यात्मक प्रयोग, वैदिक ग्रथो के मत्र सग्रह, उनकी क्रमबद्धता, एव विश्लेषण, तथा वेदागो मे मिलनेवाली ध्वनि और कोष सम्बन्धी अन्वेषण के साथ-साथ विचार किया जाता है तब हमे भारतवर्ष मे लेखन-क्रिया का अत्यत प्राचीन काल मे अस्तित्व निर्धारित करने के लिए पर्याप्त साधन मिलता है।[4] यद्यपि इन तर्कों मे पर्याप्त बल है तथापि सामान्य रूप से उनका आदर नही हुआ, जो कि 'असम्भव की युक्ति' का प्रयोग होने पर सदैव होगा। आर० शामशास्त्री (१९०६ ई०) ने भारतवर्ष के प्राचीन हिएरोग्लिफिक् चित्रो के आधार पर (जो कि उनके अनुसार तान्त्रिक लिपि मे है) शब्दो की एक व्युत्पत्ति प्रकाशित की है, परन्तु उनके पाडित्यपूर्ण लेख पर यथोचित ध्यान नही दिया गया है।

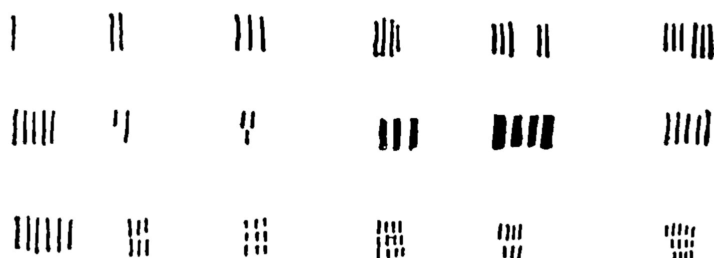
हाल के अन्वेषणो ने तो उन सभी सिद्धान्तो को पूर्णतया निरर्थक सिद्ध कर दिया है जो भारतीय लिपि को विदेशी लिपि पर आधारित मानते थे। महा-पाषाण युग (६०० ई० पू०-२००० ई० पू०) और नवपाषाण युग (१५०० ई० पू० के लगभग) के मिट्टी के बर्तन, जो मद्रास के अजायबघर मे सुरक्षित है,

[1] यहाँ पर 'एक' का अर्थ पाँसे पर छपे हुए 'एक' से है।
[2] अजैष त्वा सलिखितमजैषमुत सरुधम् ।
[3] ३ २ २१।
[4] देखिए बूलर, पूर्वोक्त ग्रथ, प ३।

लेखन मे अकित है। भडारकर[1] के अनुसार इनमे पाँच चिह्न ऐसे है जो अशोक-कालीन ब्राह्मी लिपि के चिह्नो के सदृश है। मोहेनजो-दडो और हडप्पा की खुदाई के फलस्वरूप ऐसे लेख और मुहरे प्रकाश मे आयी है जो लगभग ३००० ई० पू० की है। अतएव अब ब्राह्मी लिपि को आठवी या नवी शताब्दी ई० पू० की किमी सेमिटिक लिपि से व्युत्पन्न मानना असगत होगा।

## प्राचीनतम अक

मोहेनजो-दडो मे प्राप्त मुहरो और लेखो के अक-सूचक चिह्न अभी तक पूर्ण रूप मे नही पढे जा सके है, परन्तु उनमे कही-कही एक खडी पाई, पास-पास रखी हुई कई खडी पाइयाँ, और एक के ऊपर एक करके रक्खी हुई कई खडी पाइयाँ मिली है। मालूम होता है कि १ मे लेकर १३ तक के अक इन्ही खडी पाइयो से सूचित किये गये है, कदाचित् उसी प्रकार जैसे नीचे के चित्र मे दिखाया गया है।[2]



यह बिलकुल निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि २०, ३०, सैकडे और अधिक बडी सख्याओ को लिखने के लिए भी उस समय सकेत थे अथवा नही। यद्यपि अनेक ऐसे चिह्न मिलते है जिनके विषय में लोगो का विश्वास है कि वे ऐसी ही (बडी) सख्याओ को सूचित करते है, परन्तु इस समय ऐसा उपाय ज्ञात नही है जिससे कि उन चिह्नो के यथार्थ मान का पता चल सके।

[1] पूर्वोक्त ग्रथ।

[2] मार्शल, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ ४५०-५२। जी० आर० हटर-कृत "मोहेनजो-दडो—इडस एपिग्रैफी", (जर्नल रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, अप्रैल, १९३२, प ४७०, ४७८ और आगे) भी देखिए। हटर महोदय ने कुछ सकेतो के सख्यात्मक मान के सबध में निश्चयपूर्वक लिखा है।

मोहेनजो-दडो मे प्राप्त सामग्री तथा अशोक के अकगर्भित अन्तर्लेखो के बीच २७०० वर्षो या उससे अधिक समय का व्यवधान है। इस व्यवधान के काल मे अब तक कोई ऐसा लिखित प्रलेख नही मिला जिसमे अक-चिह्नो का प्रयोग किया गया हो। तो भी साहित्यिक प्रमाणो से विदित होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे अक-सकेतो का प्रयोग होता था। ऋग्वेद मे अक ८ का उल्लेख तथा यजुर्वेद सहिता मे $१०^{१२}$ तक की सख्याओ को सूचित करनेवाली सज्ञाओ का प्रयोग, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, यह सिद्ध करने के पर्याप्त साधन है कि उतने प्राचीन काल मे भी हिन्दू लोगो के पास भली-भाँति विकसित अक-सकेत रहे होगे। इस निष्कर्ष को इस बात से और भी बल मिलता है कि ग्रीस और रोमवालो की अकसज्ञाएँ, उन देशो मे लेखन तथा सतोषजनक अक-सकेत के सैकडो वर्ष तक प्रयोग मे आ जाने के बाद भी, $१०^{४}$ के आगे नही बढ सकी।

अशोक के अन्तर्लेखो से विदित होता है कि उनके समय मे अक सकेत सामान्य-रूप से भारतवर्ष मे खूब प्रचलित थे।[१] विभिन्न अन्तर्लेखो के अक चिह्नो मे पाया जानेवाला अतर इस बात की ओर सकेत करता है कि वे चिह्न बहुत पहले से प्रचलित थे।

अशोक के तथा अगले काल के अधिकाश अन्तर्लेख ब्राह्मी लिपि मे है, शेष खरोष्ठी लिपि मे है। इन दो लिपियो के अक सूचक चिह्नो मे विभिन्नता है। अतएव इन पर अलग-अलग विचार किया जायगा।

## ६ खरोष्ठी के अक

**प्रारम्भिक उपलब्धि**

खरोष्ठी लिपि दाहिनी ओर से बायी ओर को लिखी जाती थी। इस लिपि के अधिकाश अन्तर्लेख प्राचीन गान्धार (आधुनिक पूर्वी अफगानिस्तान और उत्तरी पजाब) मे मिले है। यह लिपि मुनीमो और व्यवसायियो के मतलब

[१] मेगस्थनीज ने उन मील के पत्थरो की चर्चा की है जो सडक पर लगे हुए थे और दूरियो की तथा निवेश-स्थानो की सूचना देते थे। ये दूरियाँ अवश्य ही अक-सूचक चिह्नो से लिखी रही होगी (बूलर, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ ६, इडिका आव मेगस्थनीज, पृ १२५-२६)। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित हिसाब रखने की जटिल रीति से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है।

की थी और सुप्रसिद्ध थी। भारतवर्ष मे इसका प्रचार चौथी शताब्दी ई० पू० से लेकर तीसरी शताब्दी ईसवी तक रहा है। अशोक के समय के खरोष्ठी लिपि के अन्तर्लेखो मे केवल चार अक-सूचक चिह्न मिले है। ये प्राचीन काल के चार ऊर्ध्वाधर चिह्न है जो एक, दो, तीन और चार अको को निम्न प्रकार से सूचित करते है

| १ | २ | ४ | ५ |
|---|---|---|---|
| / | // | //// | ///// |

इन अको के अधिक विकसित स्वरूप शक, पार्थियन और कुषान राजाओं के पहली शताब्दी ई० पू० तथा पहली और दूसरी शताब्दियो के अन्तर्लेखो मे, और कदाचित् बाद के अन्य प्रलेखो मे भी मिलते है। इस काल के कुछ अक निम्न प्रकार के है

| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| / | // | /// | X | IX | IIX | IIIX | XX |
| १० | २० | ४० | ५० | ६० | ७० | ८० | |
| 7 | 3 | 33 | ?33 | 333 | ?333 | 3333 | |
| १०० | २०० | ३०० | १२२ | २७४ | | | |
| ?I | ?II | ?III | II3?I | XI??3?II | | | |

आकार और उत्पत्ति

यह ठीक-ठीक नही कहा जा सकता कि चार का अक, जो पहले चार ऊर्ध्वाधर रेखाओ से व्यजित किया जाता था, बाद मे क्रास (×) से क्यो सूचित किया जाने लगा। ५ से लेकर ८ तक के अको को सूचित करने मे 'सकलन-सिद्धान्त'[1] का प्रयोग किया गया है, जिसका आधार ४ है। ४ से ८

[1] अर्थात जोडने का सिद्धान्त।

तक के अंकों के लिखने की यह रीति सेमाइट लोगों के प्रारम्भिक अभिलेखों में नहीं मिलती। ९ का अंक किस प्रकार लिखा जाता था, हमें कोई जानकारी नहीं। बहुत सम्भव है कि वह | X X , अर्थात् ४+४+१ (लिपि के क्रम के अनुसार दाहिनी ओर से बायीं ओर पढ़ने पर), से सूचित किया जाता हो। १० के लिए एक नया ही चिह्न है। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि १० को IIXX से क्यों नहीं सूचित करते थे, अथवा उसे लिखने में X (४) के आधार का परित्याग क्यों किया गया।

यह सभी स्वीकार करते हैं कि खरोष्ठी विदेशी लिपि है, जो पश्चिम से भारतवर्ष में लायी गयी थी। परन्तु उसे भारतवर्ष में लाये जाने का ठीक समय ज्ञात नहीं है। संभव है कि (५०० ई० पू० के लगभग) जिस समय डेरिएस ने पंजाब पर विजय प्राप्त की थी उस समय अथवा और पहले लायी गयी हो।[1] ऊपर दिये हुए अंक निश्चयतः इसी लिपि के हैं, क्योंकि उनका क्रम दाहिनी ओर से बायीं ओर को है।

ऐसा मालूम होता है कि अशोक के अन्तर्लेखों में मिलनेवाले (खरोष्ठी लिपि के) प्राचीन चिह्नों में, विशेषकर उनमें जो ४ से लेकर ९ तक अंकों को सूचित करते हैं, आगे चल कर कुछ सुधार किये गये थे। यह भी प्रतीत होता है कि ४ और १० के चिह्न भारतवर्ष में ही बनाये गये, इस दृष्टि से कि अंक लेखन में सरलता हो और इसलिए भी कि वे अत्यन्त प्रचलित ब्राह्मी अंकों के समकक्ष हो जायँ। मालूम होता है कि चिह्न X , ब्राह्मी के X को, जो अशोक के अन्तर्लेखों में ४ का सूचक है, घुमाकर बनाया गया है। घूमे हुए क्रास (×) का ४ के अर्थ में प्रयोग नेबेटियन अंकों में भी मिलता है, जो ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में

[1] खरोष्ठी लिपि के विदेशी होने के सिद्धान्त पर मोहेनजो-दड़ो और हड़प्पा की खोजों के प्रकाश में पुनर्विचार करना पड़ेगा, विशेषकर इस तथ्य के आधार पर कि मोहेनजो-दड़ो की वर्णमाला का क्रम दाहिनी ओर से बायीं ओर को था।

प्रचलित थे।[1] २० के आधार का प्रयोग करने मे तथा सैकडो की बनावट मे भी नेबेटियन अक खरोष्ठी के अको मे मिलते हैं। सम्भव है कि सेमाइट लोगो ने ४ को सूचित करनेवाले चिह्न को खरोष्ठी से नकल कर लिया हो, यद्यपि यह भी असभव नही है, जैसा बूलर का विचार है, कि उक्त चिह्न का आविष्कार दोनो राष्ट्रो ने स्वतत्र रूप से किया हो।

खरोष्ठी का दशसूचक चिह्न 7 ब्राह्मी के 'अ' अक्षर से पूर्णतया मिलता है। बीस को सूचित करनेवाला चिह्न 3 दश के दो चिह्नो को एक मे मिला कर लिखने से बना है। यह पपायरम ब्लैकस[2] (पाँचवी शताब्दी ई० पू०) के एक फिनिशियन चिह्न से मिलता है। ३०, ४०, आदि अको को १० और २० के सहायता से व्यजित करने का सिद्धान्त ठीक वैसा ही है जैसा कि प्राचीन फिनिशियन और आरमीनियन लोगो मे मिलता है।

१०० के चिह्न का आकार ठीक वैसा ही है जैसा ब्राह्मी के 'त' या 'त्र' अक्षर के दाहिनी ओर एक खडी पाई लगा देने से बनेगा।

२००, ३०० इत्यादि के चिह्न, १०० के चिह्न के दाहिनी ओर क्रमशः २, ३ इत्यादि के चिह्न लिखने से बने हैं। स्पष्ट है कि ऐसा करने मे गुणन-सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है, जैसा कि प्राचीन फिनिशिअन लोगो मे भी मिलता है।[3]

अन्य सख्याओ की बनावट २७४ की बनावट को देखने से समझ मे आ जायगी। यह अक २, १००, २०, २०, २०, १० और ४ के चिह्नो को, दाहिनी ओर से बायी ओर, निम्न प्रकार से लिखने पर बनता है

X/3337ʼ||

[1] जे ऑयटिंग्, नवाटेंशे इन्श्रिफ्टेन आउस अराबिअन, बर्लिन, १८८५, पृ० ९६-९७।

[2] बूलर, पैलिओग्रैफी, पृ० ७७, ओझा, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० १२८, आगे देखिए सारिणी २ (ब)।

[3] आगे देखिए, सारिणी २ (स)।

२, जो १०० के दाहिनी ओर लिखा है, १०० को गुणा करता है, बाकी अक जो १०० के बायी ओर लिखे है उस गुणनफल मे जुड जाते है, इस प्रकार २७४ की प्राप्ति होती है।

खरोष्ठी लिपि के प्राचीन अक सारिणी १ मे दिये है।

## ७ ब्राह्मी के अक

**प्रारम्भिक उपलब्धि और आकार**

ब्राह्मी लिपि मे लिखे हुए अन्तर्लेख समस्त भारतवर्ष मे फैले हुए मिलते है। इससे यह विदित होता है कि ब्राह्मी लिपि प्राचीन हिन्दुओ की राष्ट्रीय लिपि थी। निस्सन्देह यह ब्राह्मणो का आविष्कार है। मालूम होता है कि व्याकरण एव ध्वनि-सबधी प्राचीन अनुसधानो के परिणाम-स्वरूप इस लिपि की सिद्धि १००० ई० पू० अथवा इसके कुछ पहले हुई। अतएव ब्राह्मी अक पूर्णतया भारतीय आविष्कार है। कई प्रख्यात लेखको ने इन अको की विदेशी उत्पत्ति सिद्ध करने के सिद्धान्त उपस्थित करने के प्रयत्न किये है, परन्तु हमे पूर्ण विश्वास है कि उनके सभी प्रयत्न असफल रहे है।[1] इन सिद्धान्तो पर आगे यथा-स्थान विचार किया जायगा। प्राचीन प्रलेखो के अभाव के कारण हम निश्चित रूप से नही कह सकते कि ब्राह्मी अको के मूल आकार क्या थे। इन अको के विषय मे हमारा ज्ञान पीछे की ओर महाराज अशोक (लगभग ३०० ई० पू०) के समय तक जाता है, जिनके विशाल साम्राज्य मे सम्पूर्ण भारतवर्ष सम्मिलित था और जो उत्तर मे मध्य एशिया तक फैला था। अशोक के अन्तर्लेखो मे मिलनेवाले अक निम्न आकार के है

| ४ | ६ | ५० | २०० |
|---|---|---|---|
| + | [illegible] | [illegible] | [illegible] |

दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर्लेख, जिसमे अको का प्रयोग हुआ है, पूना से लगभग ७५ मील की दूरी पर नानाघाट नामक पहाडी की चोटी पर स्थित एक गुफा मे

[1] मोहेनजो-दडो ऐण्ड दि इडस सिविलाइजेशन, अध्याय २३, मे लेंगडन का मत देखिए।

मिला है। यह गुफा महाराज शातवाहन के वशज महाराज वेदिश्री की आज्ञा से यात्रियो के ठहरने के लिए बनायी गयी थी। इस अन्तर्लेख मे यज्ञो के अवसरो पर दिये हुए दान की सूची मिलती है। इसे पहले-पहल पडित भगवानलाल इन्द्र जी ने पढा था और इसके अक-चिह्नो का अर्थ लगाया था।[1] ये अक प्राय ३० स्थानो पर आये है, और उनके आकार निम्न प्रकार के है

| १ | २ | ४ | ६ | ७ | ९ | १० |
|---|---|---|---|---|---|---|
| - | = | ꟻ, ¥ | Ψ | 7 | ? | ∝, ∝, ∝ |

| २० | ८० | १०० | २०० | ३०० | ४०० | ७०० |
|---|---|---|---|---|---|---|
| O | ⦶ | सं | सं | सं | सं | सं |

| १,००० | ४,००० | ६,००० | १०,००० | २०,००० |
|---|---|---|---|---|
| T | T¥ | Tφ | T∝ | TO |

पहली और दूसरी शताब्दी के कई अन्तर्लेख जिनमे अको का प्रयोग हुआ है बम्बई प्रेसीडेन्सी के नासिक जिले मे स्थित एक गुफा मे मिले है। इनमे अको की अधिक पूर्ण सूची मिलती है। उनके आकार[2] निम्नलिखित है

| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| - | = | ≡ | ꟻ, ¥ | ħ, ħ | ɸ | 7 | 5, 5 |

| ९ | १० | २० | ४० | ७० | १०० | २०० | ५०० |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ? | ∝, ∝ | e | ⅃ | X | 7 | ʃ | ꟸ |

| १,००० | २,००० | ३,००० | ४,००० | ८,००० | ७०,००० |
|---|---|---|---|---|---|
| ʕ | ꟻ | ꟻ | ꟻ | ꟻ | ꟻ |

[1] "ऑन ऐंशेण्ट नागरी न्यूमरेशन फ्राम ऐन इस्क्रिप्शन ऐट नानाघाट", जर्नल ऑव दि बाम्बे ब्राच ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८७६, जिल्द १२, पृ० ४०४।

[2] ई० सेनार्ट, "दि इस्क्रिप्शस इन दि केव्ज ऐट नासिक," एपिग्रैफिया इडिका, जिल्द ८, पृ० ५९-९६, "दि इस्क्रिप्शस इन दि केव ऐट कार्ले", एपिग्रैफिया इडिका, जिल्द ७, पृ० ४७-७४।

शून्य एव स्थान-मान सिद्धान्त के आविष्कार के बाद भी १ से लेकर ९ तक अको के उन्ही (प्राचीन) चिह्नो का, शून्य के साथ, प्रयोग होता रहा। अतएव इन चिह्नो का क्रमिक विकास सहज ही मालूम किया जा सकता है। यह क्रमिक परिवर्तन, जो स्थान-मान-सिद्धान्त रहित प्राचीन प्रणाली से लेकर शून्य और स्थान-मान-सिद्धान्त-युक्त नवीन प्रणाली तक हुआ, केवल भारतवर्ष में ही देखने में आता है। ससार के अन्य राष्ट्रो ने अपने देश के अक-सकेतो को, जिन्हे वे स्थान-मान सिद्धान्त की सहायता के बिना ही प्रयोग करते थे, त्याग दिया और उनके साथ स शून्य तथा नवीन अक चिह्नो को ग्रहण किया, जो कि उनके देश में पहले कभी प्रयुक्त नही हुए थे। केवल यही तथ्य शून्य एव स्थान-मान सिद्धान्त की भारतीय उत्पत्ति का ज्वलत प्रमाण है।

ब्राह्मी लिपि की १, २ और ३ सख्याएँ, एक के नीचे एक करके रखी हुई क्रमानुसार एक, दो, और तीन बेडी (क्षैतिज) रेखाओं[1] से सूचित की जाती थी। इन आकारो में ही ब्राह्मी सकेत का खरोष्ठी और सेमिटिक सकेतो से अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

यह कहना कि ब्राह्मी लिपि की रेखाएँ बेडी तथा खरोष्ठी और सेमिटिक की खडी (ऊर्ध्वाधर) क्यो है उतना ही कठिन है जितना कि यह बताना कि ब्राह्मी लिपि में लिखने का क्रम बायी ओर से दाहिनी ओर क्यो है जबकि खरोष्ठी और सेमिटिक लिपियो में लिखने का क्रम दाहिनी ओर से बायी ओर को है। हमारा विचार है कि ब्राह्मी और खरोष्ठी (सेमिटिक) अको का सदा से साथ-साथ अस्तित्व रहा है। दोनो लिपियो में १ से ३ तक के अक-सकेतो का अन्तर कदाचित उन लिपियो के मौलिक अन्तर के कारण है। दोनो लिपियो में अक-चिह्नो की रचना का सिद्धान्त स्पष्टतया भिन्न है।

### अन्य सकेतो से अन्तर

ब्राह्मी लिपि मे १, ४ से ९ और १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, १००, २००, ३००, , १०००, २००० इत्यादि प्रत्येक सख्या के

[1] स्मिथ और कार्पिस्की का यह कथन अशुद्ध है कि नानाघाट वाले आकार ऊर्ध्वाधर है। देखिए, हिन्दू अरेबिक न्यूमरल्स, पृ० २८।

लिए अलग-अलग संकेत हैं, जबकि प्राचीनतम खरोष्ठी और प्राचीनतम सेमिटिक लिपियों में तथा हिएरोग्लिफिक[1] और फिनिशियन लिपियों में केवल १, १०, २० और १०० को सूचित करनेवाले ही संकेत हैं।

तो भी हिएरेटिक और डेमोटिक[2] अंक ब्राह्मी से इस बात में मिलते हैं कि इन तीनों में १ से १०० तक की संख्याओं के लिए केवल १९ संकेतों का प्रयोग किया गया है, परन्तु, जैसा सारिणी २ (स) से विदित होगा, २००, ३००, ४००, २०००, ३००० और ४००० को सूचित करनेवाले संकेतों की रचना-पद्धति में अन्तर है। जबकि ब्राह्मी में बड़े अंक बायीं ओर को लिखे जाते हैं, खरोष्ठी और सेमिटिक में वे, इसके विपरीत, दाहिनी ओर को लिखे जाते हैं। इस प्रकार २७४ को ब्राह्मी में, २००, ७० और ४ के चिह्नों की सहायता से, (२००) (७०) (४) द्वारा सूचित करेंगे, जबकि खरोष्ठी और सेमिटिक में (४) (७०) (२००) के द्वारा।[3]

## उनकी उत्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्त

ब्राह्मी अंकों की उत्पत्ति समझाने के लिए बहुत से सिद्धान्त उपस्थित किये जा चुके हैं। इन सिद्धान्तों में ब्राह्मी अंकों और अन्य राष्ट्रों के अंकों के बीच सादृश्य की कल्पना की गयी है। अपने-अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए लेखकों ने अन्य राष्ट्रों के अंकों में घुमाव फिराव, जोड-जाड, और काट छाँट भी की है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सिद्धान्तों में से प्रत्येक के समर्थक भी थे जो उनकी सत्यता में पूर्ण विश्वास रखते थे। नीचे हम इन सिद्धान्तों में से कुछ की रूप-रेखा दे रहे हैं

(१) कनिघम[4] महोदय का विश्वास था कि भारतवर्ष के रहनेवाले प्राचीनतम ज्ञात काल में लिखना जानते थे, तथा उनकी प्राचीन वर्णमाला चित्रात्मक थी। उनकी धारणा थी कि ब्राह्मी लिपि कदाचित् प्रारंभिक चित्रात्मक लेखन से निकली

[1] मिस्र देश की एक प्राचीन लिपि।
[2] मिस्र देश की प्राचीन दो लिपियाँ।
[3] खरोष्ठी में लिखे उसी अंक से तुलना कीजिए। देखिए पृ० २१।
[4] अशोक के शिलालेख, कॉर्पस इंस्क्रिप्टिओनम इंडिकेरम, जिल्द १, पृ०५२।

है। यह सिद्धान्त स्पष्टत अक-सकेतो पर भी लागू किया जा सकता है। तो भी बाद के पुरालेख-विदो ने इस सिद्धान्त का तिरस्कार कर दिया, इस आधार पर कि यह उन्हे अत्यधिक कपोल-कल्पित मालूम होता था। कनिघम की, भारतवर्ष मे लेखन की प्राचीनता से सबध रखनेवाली, उपर्युक्त साहसपूर्ण कल्पना को ४००० ई० पू० की उस चित्रवत लिपि न यथार्थ सिद्ध कर दिया है जो मोहेनजो-दडो और हडप्पा मे खुदाई से प्राप्त कुछ मुहरो और लेखो मे मिली है। कनिघम के सिद्धान्त को लैंगडन महोदय ने पुनर्जीवित किया है। लैंगडन के मत मे ब्राह्मी लिपि का मोहेनजो-दडो की चित्रात्मक लिपि से उत्पन्न होना सम्भव है।[1] परन्तु चूंकि मोहेनजो-दडो के लेख अभी तक पूर्ण रूप से पढे नही गये है, इसलिए लैंगडन का सिद्धान्त अभी अधूरा ही है। अभी इसे अनुमान-मात्र ही कहा जा सकता है। ब्राह्मी अक-सकेतो के विकास के सबध मे यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समय मे मोहेनजो-दडो की लिपि से अक-सकेतो का अलग करना ही एक टेढी समस्या है। यदि यह कल्पना कि पृष्ठ १७ पर दिये हुए आकार अक-सकेत है सत्य भी हो, तो भी यह सिद्धान्त प्रतिपादित करना सभव न होगा कि ब्राह्मी अको की उत्पत्ति उन्ही अको से हुई है।

(२) बेली[2] महोदय के कथनानुसार ब्राह्मी लिपि के मुख्य सिद्धान्त मिस्र देश के हिएरोग्लिफिक सकेत के आधार पर बने है, और अधिकाश भारतीय आकार फिनिशियन, बैक्ट्रियन तथा अक्केडियन स्वरूपो या अक्षरो की नकल है। जैसा पहले बताया जा चुका है[3], ब्राह्मी और हिएरोग्लिफिक के सिद्धान्तो मे नितान्त विषमता है—कोई सबध नही। हिएरोग्लिफिक और ब्राह्मी के अक, सारिणी २ (अ), २ (ब) और २ (स) मे साथ-साथ दिये गये है, पाठक उन्हे देखकर बेली महोदय के कथन की असत्यता का स्वय अनुभव कर सकते है। पुनश्च, इस कल्पना पर विश्वास करना कि हिन्दुओ ने अपने अक-सकेतो को चार-पाँच, कुछ अत्यत प्राचीन और कुछ

[1] मोहेनजो-दडो इत्यादि, अध्याय १२। हटर (पूर्वोक्त, पृ० ४६०) ने इस मत का जोरदार समर्थन किया है।

[2] जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, जिल्द १५, भाग १, पुनर्मुद्रण, लदन, १८८२, पृ० १२ और १७। इस सिद्धान्त का टेलर ने समर्थन किया था। देखिए, दि ऐल्फाबेट, लदन, १८८३, जिल्द २, पृ० २६५-६६।

[3] देखिए पृष्ठ २४-२५।

अपेक्षाकृत अधिक नवीन, सूत्रो से लिया है अत्यत कठिन है। बैक्ट्रियन और अक्केडियन अको और ब्राह्मी आकारो के सादृश्य के सबध मे, जिसकी वेली महोदय ने कल्पना की है, बूलर महोदय का कथन है कि चार अवस्थाओ मे (अर्थात् ४, ६, ७ और १० अको के आकारो मे) वास्तविकता वेली महोदय की कल्पना के नितान्त विरुद्ध है। कुछ लेखको ने वेली महोदय द्वारा दिये हुए आकारो मे, उनके सिद्धान्त से प्रभावित होने का भी दोष लगाया है।[1] इन सब कारणो से वेली महोदय का सिद्धान्त त्याज्य है।

(३) वर्नेल महोदय[2] के मतानुसार भारतीय पद्धति के सिद्धान्तो और मिस्र देश के डेमोटिक सकेत के सिद्धान्तो मे सामान्य रूप से सादृश्य है। इन्होने १ से लेकर ९ तक अको के डेमोटिक चिह्नो तथा उन्ही अको के भारतीय चिह्नो के सादृश्य का कथन किया है, और यह सिद्धान्त उपस्थित किया है कि हिन्दू लोगो ने इन अको को डेमोटिक लिपि से लिया और बाद मे उनका सुधार करके उन्हे अक्षरो मे परिवर्तन कर लिया।

(४) बूलर महोदय[3] ने वर्नेल के सिद्धान्त का एक परिष्कृत रूप उपस्थित किया है। वे लिखते है, "मुझे यह सम्भव प्रतीत होता है कि ब्राह्मी अक मिस्र देश के हिएरेटिक आकारो के आधार पर बनाये गये है, और यह कि हिन्दू लोगो ने उन्हे अक्षरो मे रूपान्तरित कर लिया, क्योकि वे पहले से ही अको को शब्दो द्वारा सूचित करने मे अभ्यस्त थे।"

वर्नेल और बूलर के सिद्धान्त भी वेली के सिद्धान्त की भाँति साधु-मूलक नही है। सारिणी २(अ), २(ब), २(स) मे ब्राह्मी के साथ-साथ हिएरेटिक और डेमोटिक सकेत दिये हुए है। इन सारिणियो की परीक्षा करने पर विदित होगा कि १ से लेकर १०० तक के अको को सूचित करनेवाले १९ सकेतो मे से, ब्राह्मी के केवल ९ सकेत डेमोटिक अथवा हिएरेटिक के सगत सकेतो के अनुरूप है। अन्य सकेतो के बीच किसी प्रकार का सादृश्य नही है। हिएरेटिक सकेत के ५ एव ब्राह्मी के ७ के बीच होने वाले रूप-सादृश्य पर व्युत्पत्ति

[1] बूलर, ऑन दि आरिजिन ऑव दि इडियन ऐल्फाबेट, स्ट्रासबुर्ग, १८९८, पृ० ५२, ५३ फुटनोट।

[2] देखिए स्मिथ और कार्पिन्स्की, हिन्दू-अरेबिक न्यूमरल्स, पृ० ३०-१।

[3] बूलर, पूर्वोक्त पृ० ८२।

का आधार स्थापित करना नितान्त अनर्गल है। इसी प्रकार अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए डेमोटिक एवं हिएरेटिक आकारों का घुमाव-फिराव भी ग्राह्य नहीं है।

इन पद्धतियों में एक समानता अवश्य है कि प्रत्येक में १ से लेकर १०० तक के अंकों को सूचित करने के निमित्त केवल १९ चिह्न ही प्रयुक्त किये गये हैं, और इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। परन्तु सैकड़ों (१००, २०० इत्यादि) और हजारों (१०००, २०००, इत्यादि) को सूचित करनेवाले चिह्नों की बनावट में भिन्नता है। ब्राह्मी में २०० और ३०० को सूचित करनेवाले संकेत बनाने के लिए १०० के संकेत के दाहिनी ओर क्रम से १ और २ मात्राएँ लगा देते हैं, इसी प्रकार २००० और ३००० को सूचित करनेवाले संकेत बनाने के लिए १००० के संकेत के दाहिनी ओर क्रम से १ और २ मात्राएँ लगा देते हैं जो कि नीचे के चित्र में स्पष्ट है

[चिह्न] = १००, [चिह्न] = २००, [चिह्न] = ३००

[चिह्न] = १,०००, [चिह्न] = २,०००, [चिह्न] = ३,०००

४०० और ४००० को सूचित करनेवाले संकेत, १०० और १००० को सूचित करनेवाले संकेतों के दाहिनी ओर [चिह्न] (४) जोड़ कर बनाये जाते हैं, जैसा कि नीचे के चित्र में है—

[चिह्न] = ४०० और [चिह्न] = ४,०००

हिएरेटिक पद्धति के संगत संकेत ये हैं

[चिह्न] = २
[चिह्न] = ३
[चिह्न] = ४,

[चिह्न] = १००,
[चिह्न] = १,०००,

[चिह्न] = २००,
[चिह्न] = २,०००,

[चिह्न] = ३००,
[चिह्न] = ३,०००,

[चिह्न] = ४००,

[चिह्न] = ४,०००

पाठक देखेगे कि हिएरेटिक पद्धति मे १००० सूचक सकेत अन्य सहस्र-सूचक सकेतो के बनाने मे प्रयुक्त नही किया गया है। यदि सिद्धान्त-सादृश्य पूर्ण रूप से भी होता, तो भी हम यह मानने को बाध्य न होते कि एक राष्ट्र ने दूसरे का अनुकरण किया है। १९ सकेतो का प्रयोग कदाचित् अको को व्यजित करने की सरल एव सर्वोत्कृष्ट रीति थी, और सम्भव है कि जो बात मिस्रवालो को सरल प्रतीत हुई हो वही स्वतत्र रूप से भारतवासियो को भी वैसी ही प्रतीत हुई हो।

इसके विपरीत कुछ कारण ऐसे है जिनसे मालूम होता है कि मिस्रवालो ने हिएरेटिक एव डेमोटिक पद्धतियो को अन्य देशो, कदाचित् भारतवर्ष, से प्राप्त किया था। यह विचार असगत नही है, क्योकि यह सभव है कि १९ सकेतो के आधार पर आश्रित भारतीय अक-सिद्धान्त का आविष्कार १००० ई० पू० के लगभग हुआ हो। यह बात तो ज्ञात ही है कि मिस्र की प्राचीन अकमाला मे केवल चार सकेत है, जो १, १०, २० और १०० अको को सूचित करते है। इस प्राचीन प्रणाली मे एक आकस्मिक परिवर्तन करके १९ सकेतोवाली दूसरी प्रणाली ग्रहण करने का कारण उचित रीति से तब तक नही समझाया जा सकता जब तक विदेशी प्रभाव की कल्पना पहले ही से न कर ली जाय। पुनश्च २, ३ और ४ को सूचित करनेवाले, घसीट मे लिखे हुए, आकार दाहिनी ओर से बायी ओर को लिखी जानेवाली हिएरेटिक एव डेमोटिक लिपियो के अनुकूल नही है। यद्यपि इन आकारो का प्राचीन हिएरोलिफिक और फिनिशियन आकारो से सबध है, तो भी यह सम्भव है कि इन आकारो का प्रयोग, नवीन प्रणाली के १९ सकेतो की आवश्यकता के निवारणार्थ, ऐसे लोगो के प्रभाव के कारण हुआ जिनकी लिपि बायी ओर से दाहिनी ओर को हो। तो भी यह कह देना उचित होगा कि हिएरेटिक प्रणाली की भारतीय उत्पत्ति की कल्पना केवल एक सुझाव है। उपर्युक्त दो बाते, जब तक उनकी अन्य प्रमाणो से पुष्टि न हो जाय, एक नवीन सिद्धान्त उपस्थित करने के लिए स्वय पर्याप्त नही है। आशा की जाती है कि आगे होनेवाले अनुसधान इस विषय पर प्रकाश डालेगे।

**अक्षर सकेत से सम्बन्ध**

१८३८ ई० मे जेम्स प्रिसेप महोदय[1] ने यह सुझाव दिया था कि अक-सकेत,

[1] 'एक्जामिनेशन ऑव इस्क्रिप्शस फ्रॉम गिरनार इन गुजरात, एण्ड धौली इन कटक', जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव बगाल, १८३८।

अक-मज्ञाओ के प्रारम्भिक अक्षरो के आधार पर बने है। परन्तु अक-मज्ञाओं के उच्चारण जान लेने पर, हम देखते है कि ऐसी बात नही है। अन्य अन्वेपको का मत है कि अक-मकेतो की बनावट, प्राचीन वर्णमाला के क्रम के अनुसार लिखे हुए अक्षरो पर आधारित है। यद्यपि अको को व्यजित करने के लिए अक्षरो का प्रयोग आठवी शताब्दी ई० पू० पहले तक हुआ है,[1] एव अक्षर-मकेत की अन्य पद्धतियाँ बाद मे आविष्कृत हुई[2] और मामान्य रूप से प्रयोग मे आयी, तो भी हम उक्त कल्पना का त्याग करने पर विवश है क्योकि प्राचीन अक-मकेतो और वर्णमाला के अक्षरो के बीच किमी प्रकार का मादृश्य नही दिखाया जा सकता।

कुछ प्राचीन हस्तलिपियो के पत्राकन मे, और कुछ मिक्को तथा कुछ अन्तर्लेखो मे एक विलक्षण अक-सकेत का प्रयोग मिलता है, जिसमे स्पष्टत वर्णमाला के स्वरो और व्यजनो का प्रयोग किया गया है। तो भी प्रयुक्त चिह्न मदैव एक तरह के नही है, बहुधा उनमे कुछ अन्तर मिलता है, जो कदाचित् अक सकेत और अक्षर-सकेत की विपमता सूचित करने के लिए किया गया है। इसमें कोई मन्देह नही कि ये चिह्न अक्षरो मे बने है, क्योकि जैनियो ने इम पद्धति को, दशमलव मकेत (अकपल्ली) मे पृथक् करन के लिए, अक्षर-पल्ली की मज्ञा दी है।[3]

अक्षर पल्ली के प्रयोग से इस बात का सुझाव मिलता है कि कदाचित् प्राचीन ब्राह्मी अक-मकेत भी ब्राह्मी वर्णमाला के स्वरो एव व्यजनो के आधार पर बने हो।

अको और अक्षर-स्वरूपो की विस्तृत समीक्षा का निष्कर्ष निम्नलिखित है[4]

अक, १, २, और ३ जो पहले बेडी रेखाओ से सूचित किये जाते थे, किमी भी अक्षर मे मादृश्य नही रखते। कदाचित् वे मात्राओ के आधार पर बनाये गये है।

४—इम अक का प्राचीनतम आकार, जो अशोक के अन्तर्लेखो मे मिलता है, 'क' अक्षर के मदृश है। नानाघाट और नासिक की गुफाओ मे मिलनेवाला

[1] ऐसा प्रयोग कदाचित पाणिनि नें भी किया है। देखिए पृ० ५८।

[2] आगे पृ० ५९ इत्यादि, देखिए।

[3] बूलर, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० ७८। अक्षरपल्ली का विस्तृत वर्णन आगे किया गया है, देखिए पृ० ६७ इत्यादि।

[4] अको के विभिन्न आकारो के लिए, देखिए सारिणी ३ से लेकर सारिणी १३ तक।

आकार 'प्क' के सदृश है। 'प्न', 'ल्क', 'ट्क' और 'प्कृ' अक्षरों से मिलते हुए आकार भी पाये जाते हैं, परन्तु ऐसे आकार अधिकांश में अर्वाचीन अन्तर्लेखों में ही मिलते हैं।

५—अधिकांश अन्तर्लेखों में यह अंक 'तृ' अक्षर से मिलता है। परन्तु 'त', 'ता', 'पु', 'हु', 'रु', 'तृ', 'तृआ', 'ना', 'न' 'ह्', 'ह्ल' और 'ह्' के सदृश आकार भी मिले हैं।

६—अधिकांश अन्तर्लेखों में यह अंक 'फ्र' अक्षर के सदृश है, परन्तु कुछ अन्तर्लेखों में 'फ्रा', 'फ', 'फा', 'ज,' और 'ह्ा' के सदृश आकार भी मिले हैं। इस अंक के विषय में अधिक सादृश्य नहीं है।

७—अधिकांश अन्तर्लेखों में यह अंक 'ग्र' अथवा 'गु' अक्षर के सदृश है, परन्तु कुछ में इसका आकार 'ग' की तरह है।

८—यह अंक अधिकतर 'ह्ल' अथवा 'ह्ला' अक्षर से मिलता है, परन्तु कुछ अन्तर्लेखों के आकार किसी अक्षर से नहीं मिलते।

९—इस अंक के प्राचीनतम आकार, जो नानाघाट, कुषान एवं क्षत्रप अन्तर्लेखों में मिलते हैं, किसी भी अक्षर के सदृश नहीं कहे जा सकते। बाद के आकार कदाचित् 'उ' अक्षर अथवा 'ॐ' के सदृश हैं।

१०—इस अंक के प्राचीनतम आकार भी किसी अक्षर से नहीं मिलते, यद्यपि बाद के आकार "रध, 'ह्', 'ह्र', 'ख' और 'ठु' या 'ठ' से मिलते-जुलते कहे जा सकते हैं।[१]

२०—इस अंक के सभी आकार 'थ' अक्षर के सदृश हैं।

३०—इस अंक के सभी आकार 'ल' अक्षर के सदृश हैं।

४०—इस अंक के सभी आकार 'प्त' अथवा 'स' से मिलते हैं।

५०—इस अंक के आकार अनुनासिक से मिलते हुए कहे जा सकते हैं।

६०—इस अंक के आकार 'पु', 'प' और 'प्र' से मिलते हैं।

७०—इस अंक के आकार 'पु', 'प्त', 'प्र', 'प्रा' अथवा 'ह्ल' के सदृश हैं।

८०—इस अंक के आकार उपध्मानीय चिह्न की तरह हैं।

९०—इस अंक के आकार भी उपध्मानीय चिह्न की तरह हैं, परन्तु इसमें बीच में श्वास का चिह्न भी मिलता है।

[१] यह बूलर का मत है। देखिए, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ८०।

१०० — अधिकाश अन्तर्लेखो मे यह अक 'मु' मे मिलता है, परन्तु कुछ अन्तर्लेखो मे इसका आकार 'अ' की तरह है।

इद्रजी का मत

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि —

(१) ६ और १०, तथा १, २, और ३ अको के प्राचीन आकारो को कोई ध्वनि-मान नही दिया जा सकता।

(२) ७ और ९ को छोडकर, अन्य अको के आकारो की ध्वनियों मे अत्यधिक अन्तर है।

(३) ७० को छोडकर, जिसके आकारो मे अत्यधिक विषमता है, अन्य दहाई-सूचक अको की ध्वनियाँ प्राय निश्चित है।

इस प्रकार, १, २, और ३ अको को छोड देने पर, हम देखते है कि शेष १६ अको मे से दो अको (अर्थात् ६ और १०) की अक्षरो से समता नही की जा सकती[1]; तीन अको (अर्थात् ७, ९ और ७०) के ध्वनिमानो मे अत्यधिक विषमता है, और शेष ११ अको के ध्वनिमान प्राय निश्चित है। इन तथ्यो के आधार पर पडित भगवानलाल इद्रजी ने यह मत उपस्थित किया है कि ब्राह्मी अक-सकेतो की उत्पत्ति ब्राह्मी वर्णमाला के अक्षरो से हुई है, तथापि पडितजी ने स्वीकार किया है कि वे यह जानने मे असमर्थ है कि इस विषय मे किस सिद्धान्त का आश्रय लिया गया है। और यह बात अब तक किसी अन्य विद्वान को भी नही ज्ञात हो सकी है। वस्तुत इस समस्या का तब तक कोई हल नही दिखायी पडता, जब तक अशोक के पूर्व की ऐसी अन्तर्लेख-सम्बन्धी सामग्री नही प्राप्त होती जिसमे अको का प्रयोग हुआ हो। अशोक के समकालीन एव परकालीन अन्तर्लेखो मे प्रयुक्त आकार इतनी अधिक उन्नत अवस्था मे है और अपने उद्भवकाल से इतने अधिक समय बाद के है कि वे अपनी उत्पत्ति के विषय मे कोई वाछित सूचना नही देते।

परन्तु समय-समय पर जो मत उपस्थित किये गये है उन सबमे से पडित इद्रजी का मत हम लोगो को सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होता है। हिन्दू लोग चौथी

[1] इनकी 'ज', 'स', 'फ़', इत्यादि से, तथा 'ठ', 'ट', इत्यादि से समता, जो बूलर (पूर्वोक्त पृ० ८०) ने कल्पित की है, हमको बहुत ठीक नहीं जँचती।

शताब्दी ई० पू० मे लिखना जानते थे। लगभग २००० ई० पू० मे वे १०[1] जैसे बडे अको का प्रयोग करते थे, और उस समय के पश्चात् उन लोगो के धर्म और विज्ञानो ने बडे अको के प्रयोग को आवश्यक बना दिया है। कहा जाता है कि गौतम बुद्ध ने छठी शताब्दी ई० पू० मे १०[1] जैसे बडे अको के लिए सज्ञाओ की रचना की थी, और आगे चलकर इस अक-परम्परा की पुनर्वृद्धि की गयी थी।[1] इन तथ्यो से उस अवस्था का उद्घाटन होता है जो अकगणित के अत्यधिक विकास के बिना असम्भव है। यह तो निश्चित है कि प्राचीनतम काल मे ही हिन्दुओ ने इन अको को लिखने की किसी प्रणाली की आवश्यकता अवश्य प्रतीत की होगी। अतएव यह निष्कर्ष निकालना कि हिन्दुओ ने ब्राह्मी अक-प्रणाली का आविष्कार किया, ऐतिहासिक प्रमाणो के प्रतिकूल न होगा। इस निष्कर्ष को इस बात से अनुमोदन मिलता है कि अकलेखन मे मात्राओ तथा अनुनासिक एव उपध्मानीय चिह्नो का प्रयोग हुआ है जो प्राचीन एव अर्वाचीन लिपियो मे से केवल सस्कृत लिपि मे ही मिलते है। इसे इस बात से और भी बल मिलता है कि हिन्दू, जैन तथा बौद्ध-परम्पराएँ ब्राह्मी लिपि और अक-सकेत को सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का आविष्कार मानती है, और तदनुसार इसे अत्यन्त प्राचीन राष्ट्रीय आविष्कार प्रतिपादित करती है।[2]

**आविष्कार का समय**

ब्राह्मी अको के आविष्कार का समय १००० ई० पू० से लेकर ६०० ई० पू० तक निर्धारित किया जा सकता है। क्योकि अशोक-कालीन अको से विदित होता है कि ब्राह्मी अक-प्रणाली समस्त भारत में सामान्य रूप से प्रचलित थी[3] और इसके पीछे एक बडा इतिहास जुडा हुआ है, अतएव नीचे की अवधि, १००० ई० पू०, निश्चय ही अधिक प्राचीन नही है। इसके विपरीत, अन्य बाते, जैसे अत्यन्त प्राचीन काल मे कलाओ एव विज्ञानो का उच्च विकास, बौद्ध

[1] देखिए पृ० १०-१२।

[2] बूलर ने अनेक प्रमाण उद्धृत किये है, (पूर्वोक्त। पृ० १, फुटनोट)। इनमें से नारद-स्मृति और जैन आगम ग्रथ समवायाग-सूत्र चौथी शताब्दी ई० पू० के है।

[3] मेगस्थनीज ने सडक पर लगे हुए मील के पत्थरो की चर्चा की है जो दूरियो तथा निवेश स्थानो की सूचना देते थे। देखिए इडिका ऑव मेगस्थनीज, पृ० १२५-१२६, बूलर, पूर्वोक्त।

साहित्य मे अक चिह्नो की चर्चा[1] और बडी-बडी सख्याओ का प्रयोग, सभी निर्देश करती है कि ब्राह्मी अक-प्रणाली का आविष्कार यदि अधिक पहले नही तो १००० ई० पू० के लगभग अवश्य हुआ होगा।

### साराश

पडितजी के सिद्धान्त की पुष्टि इस तथ्य मे है कि १९ आकारो मे से ११ आकार तो निश्चित रूप से ब्राह्मी लिपि के अक्षरो अथवा चिह्नो के सदृश है। यह सादृश्य इतना विलक्षण है कि पूर्णतया आकस्मिक नही कहा जा सकता। पुनश्च, यह भी देखा गया है कि अको के आकारो ने उस परिवर्तन का निरन्तर अनुकरण किया है जो अक्षरो के आकारो मे शताब्दी-प्रति-शताब्दी हुआ है। यह बात विशेषकर दहाइयो के लिए सत्य है और दर्शित करती है कि प्राचीन अन्तर्लेखो के लेखक इन आकारो के ध्वनिमान से अवगत थे। इकाइयो के चिह्न, अक्षरो के आकारों से कदाचित् इसलिए भिन्न है कि उनका आविष्कार सबसे पहले हुआ था और वे अधिक प्रचार मे थे, अतएव वे घसीट मे लिखे जाने लगे तथा अक्षरो के आकारो मे होनेवाले परिवर्तन का उन्होने अनुकरण नही किया।

अब हम इस परिच्छेद मे वर्णित विषय का निम्न साराश दे सकते है (१) ब्राह्मी अक निस्सन्देह भारतीय आविष्कार है, (२) दहाइयो के चिह्न वर्णमाला के अक्षरो से बनाये गये है, और (३) इकाइयो के चिह्नो की उत्पत्ति सन्देहास्पद है। सभव है कि वे भी वर्णमाला के अक्षरो के आधार पर बने हो, परन्तु जब तक अशोक के पहले के अक-चिह्न उपलब्ध नही होते तब तक इस कथन की वास्तविकता सिद्ध करने का कोई उपाय नही है।

## ८ दशमलव स्थान-मान पद्धति

### महत्त्वपूर्ण लक्षण

तीसरा परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण, हिन्दू अक-सकेत दशमलव स्थानमान सकेत है। इस पद्धति मे दस चिह्न है, जो एक से लेकर नौ तक

[1] ललित विस्तर में वर्णित, सस्कृत मूल तथा ३०८ ईसवी के चीनी अनुवाद दोनो में। जैन ग्रथ समवायाग सूत्र (ल० ३०० ई० पू०) और पन्नवना-सूत्र (लगभग १६८ ई० पू०), प्रत्येक में १८ लिपियो की एक सूची दी हुई है। देखिए वेबर, इडिशे स्टूडियन, १६, २८०, ३९९।

सख्याओ तथा शून्य को सूचित करते है और अक कहलाते है। स्थान-माप सिद्धान्त का प्रयोग करके सभी सख्याओ को सरलता से लिखने के लिए ये दश अक बिलकुल पर्याप्त है। लिखने का आधार निस्सन्देह दश है। यह पद्धति अब सम्पूर्ण जगत मे सामान्य रूप मे प्रचलित है। शून्य और स्थान-मान सिद्धान्त के बिना, हिन्दू अक उसी प्रकार के अन्य अको मे न तो श्रेष्ठ ही होते और न ससार के सभ्य लोगो मे उनका आदर ही होता। शून्य की महत्ता के सम्बन्ध मे प्रोफेसर हैलस-टेट लिखते है, "शून्य के आविष्कार के महत्त्व की कभी भी अतिशयोक्ति नही की जा सकती। निरर्थक शून्य को केवल स्थान, सज्ञा, आकृति, एव सकेत ही नही बल्कि एक उपयोगी शक्ति प्रदान करना हिन्दू जाति की, जहाँ से इसकी उत्पत्ति हुई है, एक विशेषता है। यह निर्वाण को विद्युत्‌शक्ति मे परिवर्तित करने के सदृश है। गणित सम्बन्धी कोई भी एक आविष्कार ज्ञान एव शक्ति को आगे बढाने मे इतना प्रबल नही सिद्ध हुआ है।"[1]

### आकार

एक दूसरे से भिन्न अनेक लिपियाँ आज भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागो मे प्रचलित है। इन लिपियो मे अको के आकार भी एक दूसरे से भिन्न है। यद्यपि सभी हिन्दू लिपियाँ एक ही मूलस्रोत, ब्राह्मी लिपि, से निकली है, तो भी विभिन्न आधुनिक लिपियो के आकारो मे इतना अधिक भेद है कि यदि उनका प्राचीन इतिहास न ज्ञात होता तो उनके बीच मे सम्बन्ध स्थापित करना कठिन हो जाता। उपर्युक्त कथन अक-चिह्नो के विषय मे भी लागू होता है, जैसा कि सारिणी १५ मे दिये गये अक चिह्नो की सूची के अध्ययन से स्पष्ट हो जायगा। अक-चिह्नो मे इतना अधिक भेद यह प्रदर्शित करता है कि भारत-वर्ष मे भिन्न-भिन्न लिपियो के प्रयोग मे आने के पहले ही लोग शून्य और स्थान-मान का प्रयोग जानते थे, और वर्णमाला के अक्षरो की भाँति ही अक-चिह्न भी भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागो मे स्वतन्त्र रीति से परिष्कृत किये गये थे। और क्योकि भिन्न-भिन्न स्थानो मे आकारो मे किये गये परिवर्तन एक दूसरे से स्वतन्त्र थे, इसलिए आधुनिक आकार एक दूसरे से इतने अधिक भिन्न हो गये है।

[1] जी० बी० हैल्सटेड, ऑन दि फाउन्डेशन ऐण्ड टेकनीक ऑव अरिथमेटिक, शिकागो, १९१२, पृ० २०।

यह भेद ग्यारहवी शताब्दी मे भी पहले से विद्यमान था जैसा कि अलबेरूनी के निम्न कथन से स्पष्ट है: 'जिस प्रकार भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागो मे अक्षरो के भिन्न-भिन्न स्वरूप है, उसी प्रकार अको के चिह्न भी एक दूसरे से भिन्न है।'[1]

**नागरी लिपि के आकार**

अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा अत्यन्त प्रचलित अक-चिह्न नागरी लिपि के है। इस चिह्न के आधुनिक आकार निम्नलिखित है —

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ०

इन आकारो का ब्राह्मी अको से क्रमिक विकास कैसे हुआ, सारिणी १४ में दर्शित किया गया है।

**पुरालेख-सम्बन्धी उदाहरण**

नीचे हम दसवी शताब्दी तक मिलनेवाले उन अन्तर्लेखो तथा दानपत्रो की सूची दे रहे है जिनमे दशमलव स्थान-मान सकेत का प्रयोग करके अक लिखे गये है। इस काल के बाद के अन्तर्लेखो तथा दानपत्रो मे अक लिखने के लिए सदैव दशमलव पद्धति का प्रयोग किया गया है।

१. ५९४ ई० सखेडा से प्राप्त गुर्जरो का दानपत्र (एइ,[2] २, पृ० १९)। इसका काल, चेदि सवत् ३४६, दशमलव स्थान-मान सकेत मे दिया है।

*२ ६४६ ई० बेल्हारी का लेख, (जए[4], १८६३)।

*३. ६७४ ई० कन्हेरी का लेख, (जए, १८६३, पृ० ३९२)।

४. ८वी शताब्दी जयवर्धन द्वितीय का रघोली का दानपत्र, (एइ[4], ९, पृ० ४१)। अक ३० दशमलव सकेत मे दिया है।

५. ७२५ ई० ब्रिटिश म्यूजियम मे सगृहीत सस्कृत के दो दानपत्र, (इऐं[3], १३, पृ० २५०)। इनके काल, सवत् ७८१ (=७२३ ई०) और सवत् ७८३ (=७२५ ई०), दशमलव सकेत मे दिये है।

[1] भा त अलबेरूनी कृत, जिल्द १, पृ० ७४।

[2] एइ=एपिग्रैफिया इन्डिका।

[3] इऐं=इण्डियन ऐंटिक्वेरी।

[4] जए=जर्नल एशियाटिक।

*६ ७३६ ई० धिनिकी ताम्र दानपत्र, (इऐं, १२, पृ० १५५)। इसका काल, सवत् ७९४, दशमलव सकेत मे है।

७ ७५३ ई० देवेन्द्रवर्मन् का चिकाकोल का दानपत्र, (एइ, ३, पृ० १३३)। अक २० दशमलव सकेत मे लिखा है।

८ ७५४ ई० दन्तिदुर्ग का राष्ट्रकूट दानपत्र, (इऐं, ११, पृ० १०८)। इसका काल, शक ६७५, दशमलव सकेत मे दिया है।

९ ७९१ ई० सामन्त देवदत्त का अन्तर्लेख, (इऐं, १४, पृ० ३५१)। इमका काल, मवत् ८४७, दशमलव सकेत मे है।

१० ७९३ ई० शकरगण का दौलताबाद का दानपत्र, (इऐं, ९, पृ० १९७)। इमका काल, शक ७१५, दशमलव सकेत मे दिया है।

११ ८१३ ई० तोरखेडा का दानपत्र, (एइ, ३, पृ० ५३, इऐं, ९, पृ० ३४५)। रचनाकाल, शक ७३५, दशमलव सकेत मे दिया है।

१२ ८१५ ई० नागभट का बुचकला का अन्तर्लेख, (एइ, ९, पृ०१९८)। इमका काल, म० ८७२, दशमलव सकेत मे दिया है।

१३ ८३७ ई० वाउक का अन्तर्लेख, (राजपूताना म्यूजियम, **भारतीय प्राचीन लिपि माला**, पृ० १२७, एइ, १८, पृ० ८७)। इमका काल, मवत ८९४, दशमलव सकेत मे दिया है।

१४ ८४३ ई० कन्हेरी से प्राप्त अन्तर्लेख, न० ४३ ब, (इऐं, ८, पृ० १३३)। इमका काल, शक ७६५, दशमलव सकेत मे दिया है।

१५ ८५१ ई० कन्हेरी से प्राप्त अन्तर्लेख, न० १५, (पूर्ववत्)। इसका काल[1], शक ७७५, दशमलव सकेत में दिया है।

१६ ८५३ ई० ललितसुरदेव का पाडुकेश्वर का दानपत्र, (इऐं, २५, पृ० १७७)। इसका काल, राजा के राज्यकाल का सवत् २१, दशमलव सकेत मे है।

[1] काल की शुद्धि के लिए, देखिए इऐ, २०, पृ० ४२१।

१७ ८६० ई० कक्कुक का घटियाला का अन्तर्लेख, (एइ, ९, पृ० २७७)। इसका काल सवत् ९१८, दशमलव सकेत मे दिया है।

१८ ८६२ ई० भोजराज का देवगढ का जैन अन्तर्लेख, (एइ, ४, पृ० ३०९)। काल, सवत् ९१९ और सगत शक ७८४, दशमलव सकेत म है।

१९ ८७० ई० भोजदेव के राज्यकाल का ग्वालियर का अन्तर्लेख, (आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव इडिया, रिपोर्ट, १९०३-४, प्लेट ७२), यद्यपि इसमे समय नहीं दिया है, तथापि श्लोको की सख्या, १ से लेकर २६ तक, दशमलव सकेत मे है।

२० ८७६ ई० अल्ला का ग्वालियर का अन्तर्लेख, जो भोजदेव के शासन-काल का है, (एइ, १, पृ० १५९)। इसका काल, सवत् ९३३, तथा सख्याएँ २७०, १८७, और ५० दशमलव सकेत मे है।

२१ ८७७ ई० कन्हेरी से प्राप्त अन्तर्लेख, न० ४३ अ, (इऐं, १३, पृ० १३३)। इसका काल, शक ७९९, दशमलव सकेत मे लिखा है।

२२ ८८२ ई० पहोआ का अन्तर्लेख, (इऐं, १, पृ० १८६)। इसका रचना काल, हर्ष सवत् २७६, दशमलव सकेत मे दिया है।

२३ ८९३ ई० बालवर्मन का दानपत्र, (एइ, ९, पृ० १)। इसका काल, वलभी सवत् ९५६, दशमलव सकेत मे दिया है।

२४ ८९९ ई० अवनिवर्मन् का दानपत्र, (एइ, ९, पृ० १)। सवत् ९५६ दशमलव सकेत मे दिया है।

२५ ९०५ ई० आहर का पाषाण लेख, (**जर्नल युनाइटेड प्राविंसेज हिस्टारिकल सोसायटी**, १९२६, पृ० ८३ और आगे)। इसमे बहुत से काल मिलते है, जो सब दशमलव सकेत मे लिखे है।

२६ ९१० ई० कृष्ण द्वितीय का राष्ट्रकूट दानपत्र, (एइ, १, पृ० ५३)। इसका काल भी दशमलव सकेत मे दिया है।

२७ ९१७ ई० संस्कृत और प्राचीन कन्नड के लेख, नं० १७०, (इऐं, १६, पृ० १७४)। संवत् ९७४ दशमलव संकेत में दिया है। संख्या ५०० भी प्रयोग की गयी है।

२८ ९३० ई० गोविंद चतुर्थ का खंभात का लेख, (एइ, ७, पृ० २६)। शक ८५२ दशमलव संकेत में दिया है।

२९ ९३३ ई० राष्ट्रकूट राजा गोविंदराज चतुर्थ का सांगली का दानपत्र, (इऐं १२, पृ० २४९)। शक ८५५ दशमलव संकेत में दिया है।

३० ९५१ ई० संस्कृत और प्राचीन कन्नड के लेख, नं० १३५, (इऐं, १२, पृ० २५७)। शक ८७३ दशमलव संकेत में दिया है।

३१ ९५३ ई० यशोवर्मन् का लेख, (एइ, १, पृ० १२२)। संवत् १०११ दशमलव संकेत में दिया है।

३२ ९६८ ई० सियादोनी का पाषाण-लेख, (एइ, १, पृ० १६२)। इस लेख में अनेक संख्याएँ आयी हैं जो दशमलव संकेत में लिखी हैं।

३३ ९७२ ई० अमोघवर्ष का राष्ट्रकूट दानपत्र, (इऐं, १२, पृ० २६३)। शक ८९४ दशमलव संकेत में दिया है।

दशमलव स्थान-मान संकेत-पद्धति के प्रारम्भिक प्रयोग के पुरालेख-सम्बन्धी प्रमाण सुदूरपूर्व के हिन्दू उपनिवेशों में मिले हैं।[1] इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण छः अन्तर्लेख हैं, तीन वे जो श्रीविजय में मिले हैं, दो वे जो सुमात्रा के पालमबंग में मिले हैं, और एक वह जो बंका द्वीप में प्राप्त हुआ है। इन अन्तर्लेखों में एक शक ६०५, ६०६ और ६०८ (अर्थात् ६८३ ई०, ६८४ ई० और ६८६ ई०) अंकों में लिखे मिले हैं। अन्य उदाहरण कम्बोडिया के सम्बोर नगर का अन्तर्लेख है, जिसमें शक ६०५ लिखा हुआ मिला है। चंपा द्वीप के पो नगर के अन्तर्लेख में शक ७३५ (=८१३ ई०) का प्रयोग हुआ है।

**उपर्युक्त लेखों की कल्पित अविश्वसनीयता**

उपर्युक्त सूची में तीस से अधिक ऐसे पुरालेख-सम्बन्धी उदाहरण दिये गये हैं, जो सिद्ध करते हैं कि भारतवर्ष में अंक लिखने के लिए बहुत पहले

[1] जो० कोदे, "ए प्रोपो दे लोरिजीं दे शिफ्र आराब," बुलेटिन स्कूल ऑव ओरियंटल स्टडीज (लंदन), ६, १९३१, पृ० ३२३-८।

से स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग होता था। जी० आर० के०,[1] जो स्थान-मान संकेत के अभारतीय होने के सिद्धान्त को मानते है, कहते है कि इस संकेत के प्रयोग के लेखन सम्बन्धी सभी प्रमाण अविश्वसनीय है। कुछ जाली ताम्रपत्रो के आधार पर उनका कथन है कि ग्यारहवी शताब्दी मे "अपहरण किये हुए दान को पुन पाने तथा नये दान को नये सिरे से प्राप्त करने का अत्यन्त सुन्दर अवसर मिला", और इससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि लेखन सम्बन्धी सभी प्राचीन प्रमाण अवश्य ही अविश्वसनीय होगे। इस प्रकार का तर्क स्वय ही दोषपूर्ण है और उसके खडन करने की कोई आवश्यकता नही।

अधिकाश ताम्रपत्र वैध लेख है, जिनमे उन दानो का वर्णन रहता है, जो धनी व्यक्ति अथवा राजा लोग किसी धार्मिक अवसर पर ब्राह्मणो को देते थे। इन पत्रो मे दान देने के अवसर का, दान देनेवाले तथा पानेवाले के नामो का, दी हुई चल और अचल सम्पत्ति का, और दान देने की तिथि का (जो शब्दो मे और अधिक-तर अको मे भी दी रहती है) विवरण रहता है। जाल दो प्रकार का हो सकता है (१) मूल लेख मे ही या तो दान देनेवाले या पानेवाले का नाम अथवा अचल सम्पत्ति का विवरण ताम्रपत्र को पीटकर मिटा दिया जाय और उसके स्थान पर नया नाम या नया विवरण लिख दिया जाय। ऐसा जाल आसानी से मालूम किया जा सकता है, क्योकि जिस स्थान पर ताम्रपत्र पीटा जायगा वहाँ के धरातल मे विषमता आ जायगी और दूसरे नयी और पुरानी लिखावट मे अन्तर होगा। (२) एक बिलकुल नया जाली ताम्रपत्र बनाया जा सकता है। ऐसे उदाहरण, यद्यपि विरले होगे, तो भी उनका आसानी से पता लगाया जा सकता है, क्योकि ताम्रपत्र मे अकित तिथि और ताम्रपत्र मे लिखे हुए अक्षरो के आकारो के आधार पर निर्धारित तिथि मे स्पष्ट अन्तर रहेगा। इस प्रकार के जाली ताम्रपत्रो के सम्पादन मे हीनता होती है, तथा वश के वर्णन या अन्य ऐतिहासिक तथ्यो मे भी अशुद्धियाँ रहती है।

ताम्रपत्र विशेषज्ञो को जाली ताम्रपत्रो का पता लगाने मे अब तक कोई कठिनाई नही पडी है। हम यहाँ यह बता दे कि हमारी सूची मे सम्मिलित

[1] "नोट्स ऑन इडियन मैथेमेटिक्स," जर्नल आँव दि एशियाटिक सोसायटी आँव बगाल, (नई श्रेणी, १९०७), जिल्द ३, पृ० ४८२-८७।

दानपत्रो की असलियत मे किसी ताम्रपत्र-विशेषज्ञ ने किसी प्रकार का सन्देह नही प्रकट किया है।'

के महोदय ने अपने लेख मे, जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, १८ शिला-लेखो और दानपत्रो की एक सूची दी है और उनमे से दो को छोडकर शेष १६ को जाली बताया है। इस सम्बन्ध मे उन्होने जो तर्क उपस्थित किये है तथा जिन तथ्यो का कथन किया है, अधिकतर अशुद्ध और भ्रमात्मक है, अतएव उनके निष्कर्षो को स्वीकार नही किया जा सकता। उनके तर्क करने का ढग दिखाने के लिए, उदाहरण के तौर पर, गुर्जरो के दानपत्र पर (जो हमारी सूची मे पहले नम्बर पर है) उनकी आलोचना उद्धृत कर रहे है। वे लिखते है 'डा० बूलर ने चेदि सवत ३४६ (=५९४ ई०) के गुर्जरो के दानपत्र को यह कहकर उद्धृत किया है कि यह सबसे पहला लेख है जिसमे दशमलव सकेत का प्रयोग मिलता है। (1) इस दानपत्र (एइ, २, पृ० २०) की परीक्षा करने पर यह सम्भावना प्रतीत होती है कि उसमे दिये हुए अक दानपत्र के लिखे जाने के कुछ समय बाद के जोडे हुए है दानपत्र मे दिया हुआ समय 'तीन सौ छियालीस' शब्दो और अको दोनो मे है। अक दानपत्र के बिलकुल अत मे दिये है और अत्यन्त असाधारण तौर पर विराम-द्वय द्वारा अलग कर किये गये है। (२) अक उक्त काल के अको के सदृश ह, लेकिन वे बहुत समय बाद भी प्रचार मे थे, और किसी अन्य उदाहरण मे ऐसे अको का प्रयोग स्थान-मान के साथ नही हुआ है। (३) इसके अतिरिक्त (अन्य लेखो मे) नौ तिथियाँ पुराने सकेत मे भी मिली है, (एइ, ५), उदाहरणार्थ, गुर्जरो के भडोच के दानपत्र मे चेदि सवत् ३९१ (=६४० ई०) पुराने सकेत मे दिया है। पुनश्च, कोई अन्य चेदि सवत् ऐसा नही मिलता, कम से कम ग्यारहवी शताब्दी के पहले का जो

' यदि इनमें से कोई जाली है भी तो जाल इतना अच्छा किया गया है कि उसका पता नहीं चल सकता। ऐसे दानपत्र यदि हो भी तो उनकी लिखावट में इतना सुन्दर जाल है कि वह उसी समय का मालूम पडता है जिस समय का वह दानपत्र माना जाता है। अतएव जहाँ तक अकलेखन की रीति से सबध है उन दानपत्रो की प्रामाणिकता को अस्वीकार नही किया जा सकता, चाहे वे आगे चल कर जाली ही क्यो न सिद्ध कर दिये जायँ, परन्तु इसकी सभावना बहुत कम है। यह ध्यान देने योग्य है कि हमारी सूची में बहुत से पाषाणलेख भी सम्मिलित है, जिनका जाली होना असम्भव है।

आधुनिक दशमलव संकेत में हो। (४) भारतवर्ष में आधुनिक संकेत-प्रणाली के प्रारंभिक प्रयोग के इस प्रमाण-विशेष की सारहीनता के विषय में दूर की भी कोई सम्भावना नहीं है।'

निम्नलिखित कथन से विदित होगा कि के महोदय के तर्क और उनके निष्कर्ष निराधार एवं अप्रामाणिक हैं

(१) उक्त दानपत्र (इइ, २, पृ० १९) की परीक्षा करने पर प्रत्येक व्यक्ति को उसकी असलियत पर पूर्ण विश्वास हो जायगा। उसकी लिखावट बड़ी है और साफ है, अंक अंत में लिखे गये हैं और, जैसा होना चाहिए, वे 'तीन सौ छियालीस' शब्दों के ठीक बाद में लिखे गये हैं। पुनश्च, जैसा होना चाहिए, वे खड़ी पाइयाँ लगाकर लिखे हुए शब्दों से अलग कर दिये गये हैं। पृथक्करण की इस रीति में किसी संदेह का किञ्चिन्मात्र भी स्थान नहीं है, क्योंकि ऐसी रीति भारतवर्ष में सामान्यरूप से प्रचलित है और प्रायः देखने में आती है। यह भी अच्छी तरह से ज्ञात है कि लेखों के अंत में तिथि लिखने की परिपाटी थी।[1] वस्तुतः, तिथिसूचक अंक प्रायः किसी लेख के अन्त होने की सूचना देते हैं।[2] दोहरी खड़ी रेखाएँ अन्तविराम के चिह्न हैं। यद्यपि प्राचीनतम ज्ञात काल से ही भारतवर्ष में विराम चिह्न का प्रयोग होता रहा है, तो भी अभी हाल तक उसका प्रयोग नियमित अथवा अनिवार्य नहीं था।[3] भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न चिह्नों का भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग किया है। अन्तर्लेखों में दोहरी खड़ी रेखा का प्रयोग वाक्यों के अन्त में, आधे श्लोक के बाद, पूरे श्लोक के बाद, और बड़े-बड़े गद्यांशों के अन्त में मिलता है। जनार के अन्तर्लेख में इसका प्रयोग अंकों के बाद, और एक बार दान देनेवाले के नाम के बाद भी हुआ है।[4] हस्तलिखित

[1] हमारी सूची में वर्णित अधिकांश ताम्रपत्रों में लेखनकाल अंत में दिया हुआ है।

[2] ऐसी बात हुविष्क के नारगाँव के दानपत्र में (आर्किआलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, १९०८-९, दानपत्र ५६), रुद्रदमन के अन्तर्लेख (इए, ८, पृ० ४२) में, तथा अन्य अन्तर्लेखों और दानपत्रों में भी है।

[3] कुछ ताँबे के दानपत्र ऐसे भी हैं जिनमें किसी विराम चिह्न का प्रयोग नहीं मिलता। देखिए बूलर, पूर्वोक्त ग्रंथ, ९०।

[4] बूलर, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ८९।

पुस्तकों मे अकों को खडी रेखाओ मे अलग करने की प्रथा सामान्य रूप मे मिलती है। ऐसा प्रयोग वक्षाली हस्तलिपि[1] मे तथा अन्य वहुत सी हस्तलिपियो मे मिलता है। अतएव अको का दानपत्रो के अन्त मे लिखा जाना और दोहरी खडी पाई का अन्तर्विराम के रूप मे प्रयोग, लेख की प्रामाणिकता पर सदेह प्रकट करने का समुचित आधार नही माना जा सकता। यह सुझाव कि अक दानपत्र लिखे जाने के कुछ समय वाद जोड दिये गये है अयुक्त है, क्योकि जव समय पहले ही से शब्दो मे लिखा हुआ है तो किसी को क्या प्रयोजन कि वह वाद मे अक जोडने का कष्ट उठावे।

( २ ) के महोदय मानते है कि दानपत्र के अक उसी काल के अको की तरह है जिस काल का दानपत्र है। परन्तु उनका यह कथन कि वे अक वहुत समय वाद भी प्रयोग किये जाते थे असत्य है। सारिणी ३–५ और १२ को देखने से स्पष्ट हो जायगा कि आठवी शताब्दी के वाद अक ३ को सूचित करने के लिये तीन पडी रेखाओ का प्रयोग नही हुआ है। अक ४ के लिए हमारे दान-पत्र मे जिस चिह्न का प्रयोग किया गया है, वह छठी शताब्दी के वाद नही मिलता, और यही वात अक ६ के चिह्न के लिए भी सत्य है। इस प्रकार केवल अक चिह्नो के आकार ही यह सिद्ध कर देते है कि उक्त दानपत्र छठी शताब्दी का लिखा हुआ है, वाद का नही।

( ३ ) चेदि सवत् उन ३४ सवतो मे है, जिनका प्रयोग अन्तर्लेखो और दान-पत्रो मे मिला है। प्रस्तुत दानपत्र के वाद के लिखे हुए लेखो मे चेदि सवत् के तौ सवतो का प्राचीन पद्धति के अको मे पाया जाना इस प्रमाणविशेष की अप्रामाणिकता नही सिद्ध करता, जैसा कि के महोदय के अनुसार हम लोगो को समझना चाहिये। यह केवल यही प्रदर्शित करता है कि भारतवर्ष मे भी (अक-सकेत की) नवीन पद्धति को अपना महत्त्व स्थापित करने के लिये प्राचीन पद्धति के साथ सघर्ष करना पडा था, जैसा कि अन्य देशो मे देखा गया है। अरव मे नवीन पद्धति का प्रचार आठवी शताब्दी मे किया गया था, परन्तु पाँच-छ सौ वर्ष वाद

[1] उदाहरणार्थ, ।५।, पत्र २(अ), ।२५५८।, पत्र २(व), ।३३०।, पत्र १७ (व)। निम्न प्रकार के उदाहरण सामान्य रूप से मिलते है ।१।४।६। १६।, पत्र १६ (व), और ।२।,।४।, इत्यादि, पत्र ५ (व)। वहुधा असम्वद्ध अको को रेखाओ से अलग नही किया गया है। 'उदा' और 'सूत्रम्' इत्यादि शब्दो के पहले और वाद भी दोहरी खडी पाइयाँ लगायी गयी है।

तक यह सामान्य प्रयोग मे नही आयी। यूरोप मे तो सोलहवी शताब्दी के पहले जो जनसाधारण नवीन पद्धति का प्रयोग करते थे वे केवल अपवादमात्र थे। इस बात के श्रेष्ठ प्रमाण वहाँ के कलैण्डर (almanacs) है। सन् १५५७ से लेकर सन् १५९६ तक के कलेण्डरो मे साधारणत रोमन अको का प्रयोग है, और सन् १५७८ वाले क्वेबल के कलेण्डर मे हिन्दू अक रोमन अको के साथ गौणरूप से दिये गये है।'

अतएव हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि गुर्जर दानपत्र भारतवर्ष मे (स्थान-मान युक्त) नवीन पद्धति के प्रयोग का प्रामाणिक उदाहरण है।

कुछ अन्य दानपत्रो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे भी के महोदय की आलोचना निराधार है। ये दानपत्र हमारी सूची मे ताराकित कर दिये गये है।

**नवीन पद्धति के अविष्कार का स्थान**

यह पहले कहा जा चुका है कि १ से लेकर ९ तक के अको के वही चिह्न जो भारतवर्ष मे प्राचीनतम काल मे प्रचार मे थे नवीन पद्धति मे स्थान-मान सकेत के साथ भी प्रयुक्त किये गये है। नवीन पद्धति से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य महत्त्वपूर्ण बात बडी सख्याओ की रचना मे अको का क्रम है। हम ऊपर देख चुके है कि प्राचीन पद्धति मे बडे अक छोटे अको के बायी ओर लिखे जाते थे।[2] स्थान-मानवाली पद्धति मे भी, जिसमे बायी ओर के अको का अपने स्थान के कारण अधिक मूल्य है, वही क्रम है। प्राचीन अक-पद्धति से लेकर नवीन अक-पद्धति तक होने वाला क्रमिक विकास केवल भारतवर्ष मे ही देखा जा सकता है, और यह बात हमारे विचार से नवीन पद्धति की भारतीय उत्पत्ति के पक्ष मे सबसे अधिक शक्तिशाली तर्क है। जैसा ऊपर देख चुके है, नवीन पद्धति के प्रयोग का सबसे प्राचीन लिखित प्रलेख ५९४ ई० का गुर्जर का दानपत्र है। ससार का कोई भी देश इस पद्धति के प्रयोग का इतना प्राचीन उदाहरण नही उपस्थित कर सकता। अतएव आधुनिक अक-पद्धति की भारतीय उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए केवल यह लिखित प्रमाण ही पर्याप्त है।

[1] स्मिथ और कार्पिस्की, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० १३३।

[2] इससे यह विदित होता है कि किसी अक के स्थान का निर्धारण उसके मान पर निर्भर रहता था। कुछ लोगो ने इसका यह अर्थ लगाया है कि यह एक प्रकार की स्थान-मान पद्धति थी, परन्तु यह अशुद्ध है।

### आविष्कारक अज्ञात

यह पता नही कि नवीन पद्धति का जन्मदाता कौन था। यह भी नही मालूम कि यह आविष्कार किसी विद्वान-विशेष अथवा ऋषियो की मण्डली द्वारा किया गया था, अथवा किसी विशेष प्रकार के एवैकस के प्रयोग के कारण होनेवाले क्रमिक विकास का फल था। इसी प्रकार यह भी अज्ञात है कि इस आविष्कार का तथा इसके प्रथम बार प्रयोग किये जाने का श्रेय किस स्थान, नगर, प्रदेश अथवा विद्या के केन्द्र को है। पुरालेख-सम्बन्धी साक्ष्य से इस विषय मे कोई सहायता नही मिल सकती, क्योकि अन्तर्लेखो मे इसका प्रयोग उस समय हुआ जब कि इसके आविष्कार को हुए बहुत समय हो चुका था, वस्तुत जब यह आविष्कार उत्तरी भारत मे पूर्णतया प्रख्यात हो चुका था।

### आविष्कार का समय

दानपत्र वैध प्रलेख होते थे और पेशेवर लोगो द्वारा लिखे जाते थे। ऐसे लेखको का उल्लेख दक्षिण के बौद्ध आगमो तथा महाकाव्यो मे मिलता है।[1] ये लोग 'लेखक', 'लिपिकार' और आगे चलकर 'दिविर', 'करण' और 'कायस्थ' आदि नामो से प्रसिद्ध थे। कल्हण के अनुसार[2], काश्मीर के राजा लोग वैध प्रलेखो के विकर्षण के लिए एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति करते थे जो 'पट्टोपाध्याय' कहलाता था। 'लेख-पञ्चाशिका' और 'लेख-प्रकाश' जैसी पुस्तको का अस्तित्व, जिनमे साधारण पत्र, भूमि-सम्बन्धी दान-पत्र, सन्धि-पत्र तथा विविध प्रकार के बन्धपत्र और विनिमय-पत्रो (हुडियो) के विकर्षण की विधियाँ वर्णित है, निस्सदेह सिद्ध करता है कि दानपत्रो का लेखन एक विशिष्ट कला थी और इन पत्रो के लिखने की रीति अपने समय से सैकडो वर्ष पहले की रही होगी, जैसी कि आजकल के वैध तथा राजकीय प्रलेखो की होती है। अतएव नवीन पद्धति के आविष्कार का समय गुर्जर दानपत्र के रचना-काल (६वी शताब्दी), जिसमे इसका प्रयोग हुआ है, से कई शताब्दियाँ पूर्व-निर्धारित

[1] बूलर पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० ५।
[2] राजतरगिणी, ५, पृ० ३९७ आदि।

करना पडेगा। इस आविष्कार का निश्चित काल अन्य देशो के अंक-संकेत के विकास के इतिहास के आधार पर स्थूल रूप मे कल्पित किया जा सकता है।

हीथ[1] के अनुसार यूनानी वर्णमाला-संकेत का आविष्कार सातवी शताब्दी ई० पू० मे हुआ था, परन्तु सामान्य रूप मे उसका प्रयोग केवल दूसरी शताब्दी मे ही हुआ। इस प्रकार उसके प्रसिद्ध होने मे ८०० वर्ष लगे। अरब मे नवीन संकेत का प्रचलन ८वी शताब्दी मे किया गया था, परन्तु उसका सामान्य प्रयोग ५ या ६ सौ वर्ष बाद ही हुआ। अरब लोगो को तो गणित के परिकर्मो की प्रयोग-विधि के साथ संपूर्ण दशमलव गणित ऐसे समय मे प्राप्त हुई थी जब अरब मे बौद्धिक व्यापार अपनी पराकाष्ठा पर था, फिर भी दशमलव-पद्धति को सामान्य बनाने मे उन्हे लगभग ५ या ६ सौ वर्ष लग गये।[2] वैध प्रलेखो मे और ऐतिहासिक तिथियो के अभिलेखन मे अरबवाले आज भी अपने प्राचीन वर्णमाला-संकेत का ही प्रयोग करते है।

पुरालेख सम्बन्धी प्रमाणो से विदित होता है कि आठवी शताब्दी मे भारत-वर्ष मे सामान्य रूप मे नवीन पद्धति का प्रयोग होता था, और दशवी शताब्दी के मध्य तक प्राचीन पद्धति का उत्तरी भारत मे लोप हो चुका था। अतएव नवीन पद्धति के आविष्कार का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० और तीसरी शताब्दी के बीच मे कही रखा जा सकता है। तथापि इस आविष्कार का वास्तविक समय पहली शताब्दी ई० पू० के सन्निकट, अथवा इसके पूर्व ही, रहा होगा, क्योकि यह पद्धति अपने आविष्कार के बहुत समय बाद तक केवल कौतुक की वस्तु रही होगी और इसका प्रयोग केवल बडी-बडी संख्याओ के लिखने मे ही किया जाता रहा होगा। इससे भी अधिक समय जोड, बाकी, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल आदि गणित के परिकर्मो के नियम बनाने मे लगा होगा। और इन नियमो के बन जाने के बाद ही गणितज्ञ लोग इसे अपने प्रयोग मे लाये होगे। उसके बाद भी

[1] हीथ, हिस्ट्री ऑव ग्रीक मैथेमेटिक्स, भाग १, आक्सफोर्ड, १९२१, पृ० ३४।

[2] ११वीं शताब्दी में लिखी गयी अल-खर्की की अकगणित में दशमलव पद्धति का प्रयोग नहीं किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय अरब में गणितज्ञो के दो सप्रदाय थे, जिनमें से एक हिन्दू अको के प्रयोग के पक्ष में था और दूसरा जिसने प्राचीन अको का प्रयोग करना नहीं छोडा था। 'इन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम' में 'हिसाब' पर एच० सूटर का लेख देखिए।

सामान्य रूप से प्रसिद्ध होने मे इसे लगभग ५०० या ६०० वर्ष लगे होगे, जैसा कि अरब मे हुआ। इस प्रकार इस पद्धति के आविष्कार और सामान्य रूप मे प्रचलित होने के कालो मे लगभग ८०० वर्ष का अन्तर अवश्य पडा होगा, जैसा कि यूनानी वर्णमाला-संकेत के सम्बन्ध मे हुआ। अतएव केवल पुरालेख-सम्बन्धी प्रमाणो के आधार पर ही हम इस आविष्कार को ईसवी सन् के आरम्भ मे, अधिक सम्भवत प्रथम शताब्दी ई० पू० मे, रख सकते है। साहित्यिक तथा अन्य प्रमाणो से भी, जिनकी चर्चा आगे की जायगी, इस निष्कर्ष को समर्थन मिलता है।

## ९ प्राचीन पद्धति का अन्त

अंक लिखने की प्राचीन पद्धति, जिसमे स्थान-मान सिद्धान्त सम्मिलित नही था, साधारणत सातवी शताब्दी तक के लेखो मे मिलती है। उस समय के बाद, स्थान-मान सिद्धान्त के पक्ष मे, उसका प्रयोग धीरे-धीरे बन्द कर दिया गया। तो भी दशवी शताब्दी के आरम्भ तक प्राचीन पद्धति का प्रयोग यदा-कदा नैपाल मे तथा दक्षिण-भारत के लेखो मे देखने को मिलता है, परन्तु इस काल के बाद प्राचीन पद्धति लोगो को भूल सी गयी और उसका प्रयोग बिलकुल नही हुआ। सातवी शताब्दी मे सामान्य रूप से तो नवीन पद्धति का ही प्रयोग होता था, परन्तु अन्तर्लेख आदि के लिखने मे प्राचीन पद्धति को मान्यता दी जाती थी। आठवी शताब्दी के लिखे हुए बहुत से दानपत्र ऐसे है जिनमे अंक तो प्राचीन पद्धति के अनुसार है परन्तु उनके लिखने मे अशुद्धियाँ है, जिससे विदित होता है कि उस समय लोग अंक लिखने की प्राचीन पद्धति भूल चुके थे। उदाहरणार्थ, शीलादित्य षष्ठ के दानपत्र[1] मे जो गुप्त संवत् ४४१ (=७६० ई०) का है, १०० के चिह्न मे ४ का चिह्न जोडने की जगह, ४० का चिह्न जोडा गया है, तदनुसार ४०० के स्थान मे ४००० लिखा गया है। इसी प्रकार एक दूसरे दानपत्र मे, जो गागेय संवत् १८३ (=७५३ ई०) का है, १८३ लिखने मे अशुद्धि की गई है।[2] इस दानपत्र का एक विशेष महत्त्व है, क्योकि इसमे प्राचीन और

[1] इंडियन ऐंटिक्वेरी, ६, पृ० १६, (दानपत्र)।

[2] एपिग्रैफिया इंडिका, ३, पृ० १३३, (दानपत्र)। इसमें ८० के लिए ८ का चिह्न और ३० के लिए ३ का चिह्न लिखा गया है। २० लिखने के लिए २ का चिह्न लिखकर उसके आगे एक बिन्दु रख दिया गया है।

नवीन दोनो पद्धतियो का एक साथ प्रयोग किया गया है।[1] दोनो पद्धतियो को एक साथ प्रयोग करनेवाला एक दूसरा मनोरजक उदाहरण आहर दानपत्र है।[2] इस दानपत्र मे ३७ वर्षो के अन्दर अनेक अवसरो पर दिये गये दानो की सूची दी गयी है, लेख की अन्तिम पूर्ति ९०५ ई० मे हुई है। इस लेख की प्रथम छ पक्तियो मे प्राचीन पद्धति का प्रयोग है, परन्तु आगे की पक्तियो मे प्राचीन पद्धति का त्याग करके नवीन पद्धति का प्रयोग किया गया है। अको के आकारो से स्पष्ट है कि लेखक प्राचीन पद्धति से अनभिज्ञ था। उदाहरणार्थ, २०० लिखने के लिए सु (=१००) मे प्राचीन पद्धति के अनुसार मात्रा का चिह्न न जोडकर २ का अक जोड दिया गया है। इसी प्रकार १० लिखने मे भी अशुद्धि है, लेखक ने १० के चिह्न के बाद शून्य लिख दिया है। इस लेख से प्रतीत होता है कि यद्यपि प्राचीन पद्धति का प्रयोग बिलकुल बन्द हो चुका था, तो भी लोग अन्तर्लेख आदि म उसी का प्रयोग करते थे, कदाचित् उन्ही कारणो से जिन कारणो से अध्यायो के अकन मे तथा घडियो के ऊपर घटासूचक अक लिखने मे आज भी रोमन अको का प्रयोग किया जाता है।

## १० शब्दाक-पद्धति

**पद्धति का वर्णन।**

ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो मे, स्थान-मान के क्रम से रखे हुए शब्दो द्वारा सख्याओ को सूचित करने की एक नयी पद्धति का विकास एव सिद्धि की गयी। इस पद्धति मे अको को ऐसे शब्दो द्वारा सूचित करते है जो वस्तुओ, जीवो अथवा भावो के नाम होते थे तथा स्वय, या शास्त्र के विधान से, अकबोधक होते है। इस प्रकार अक १ किसी ऐसी वस्तु द्वारा सूचित किया जा सकता है जो अपने प्रकार की एक ही है, जैसे पृथ्वी, चन्द्रमा, इत्यादि, अक २ को ऐसी वस्तु से सूचित कर सकते है जिसके जोडे होते है,

[1] दोनो पद्धतियो का मिश्रित प्रयोग करनेवाले अन्य उदाहरणो के लिए, देखिए फ्लीट गुप्त इस्क्रिप्शस कॉर्पस इस्क्रिप्टिओनम इडिकेरम, जिल्द ३ पृ० २९२, और इडियन ऐटिक्वेरी, १४ पृ० ३५१, इसमे (८००) (४) (९) = ८४९।

[2] सी० डी० चटर्जी, 'दि आहर स्टोन इस्क्रिप्शन', 'जर्नल यूनाइटेड प्राविसेज हिस्टारिकल सोसायटी, १९२९, पृ० ८३-११९।

जैसे आँख, हाथ, युग्म, इत्यादि, इसी प्रकार अन्य अक भी सूचित किये जा सकते है। शून्य को अभ्र, आकाश, पूर्ण आदि शब्दो से सूचित करते है।

इस पद्धति का प्रयोग ज्योतिष, गणित तथा छद शास्त्र के ग्रथो मे, समय सूचित करने के लिए अन्तर्लेखो तथा दानपत्रो मे, और हस्तलिपियो मे भी हुआ है। भारतवर्ष के प्राचीन ज्योतिषियो और गणितज्ञो ने अपने ग्रथो को पद्य मे लिखा। अतएव उनको ज्योतिष के ग्रन्थो तथा गणित के उदाहरणो मे आनेवाली बडी-बडी सख्याओ को सूचित करने के लिए सुगम रीति की आवश्यकता पडी। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए शब्दाको का आविष्कार हुआ, और शीघ्र ही वे अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये। आज भी जब बडी-बडी सख्याओ को पद्यबद्ध करना होता है तो इन्ही अको का प्रयोग किया जाता है।

एक से लेकर नौ तक अको तथा शून्य को सूचित करनेवाले शब्दो को स्थान-मान सिद्धान्त के अनुसार प्रयोग करके किसी सख्या को सरलता से व्यजित किया जा सकता है। इस प्रकार सख्या १,२३० को कई प्रकार से सूचित कर सकते है, जैसे—

(१) खगुणकरादि (ख-गुण-कर-आदि),
(२) खलोककर्णचन्द्र (ख-लोक-कर्ण-चन्द्र),
(३) आकाशकालनेत्रधरा (आकाश-काल-नेत्र-धरा), इत्यादि।

हम देखते है कि वही सख्या शब्दाको के द्वारा सैकडो प्रकार से सूचित की जा सकती है। इस विशेषता के कारण सख्याओ को छन्दबद्ध करने मे शब्दाक अधिक उपयुक्त सिद्ध हुए है। और अधिक विविधता लाने के लिए दस से बडे अक भी कभी-कभी विशेष शब्दो द्वारा सूचित किये जाते है।

**शब्दाको की सूची**

निम्नलिखित सूची उन शब्दो की है जो इस पद्धति मे अको को सूचित करने के लिए साधारण तौर से प्रयोग मे आये है

| अक | शब्द |
|---|---|
| ० | शून्य, ख, गगन, अम्बर, आकाश, अभ्र, वियत्, व्योम, अतरिक्ष, नभ, जलधरपथ, पूर्ण, रन्ध्र, विष्णुपद, अनन्त, इत्यादि। |
| १ | आदि, शशि, इदु, विधु चन्द्र, कलाधर, हिमगु, शीताशु, क्षपाकर, हिमाशु, शीतरश्मि, प्रालेयाशु, सोम, शशाक, मृगाक, हिमकर, |

सुधांशु, रजनीकर, शशधर, श्वेत, अब्ज, भू, भूमि, क्षिति, धरा, उर्वरा, गो, वसुन्धरा, पृथ्वी, क्षमा, धरणी, वसुधा, इला, मही, रूप, पितामह, नायक, तनु, इत्यादि।

२ यम, यमल, अश्विन्, नासत्य, दस्र, लोचन, नेत्र, अक्षि, दृष्टि, चक्षु, अम्बक, नयन, ईक्षण, पक्ष, बाहु, कर, कर्ण, कुच, ओष्ठ, गुल्फ, जानु, जंघा, द्वय, द्वन्द, युगल, युग्म, अयन, कुटुम्ब, रविचन्द्रौ, नय,[1] इत्यादि।

३ राम, गुण, त्रिगुण, लोक, त्रिजगत्, भुवन, काल, त्रिकाल, त्रिगत, त्रिनेत्र, हरनेत्र, सहोदरा, अग्नि, अनल, वह्नि, पावक, वैश्वानर, दहन, तपन, हुताशन, ज्वलन, शिखिन्, कृशानु, होतृ, पुर, रत्न[2] (जैन), इत्यादि।

४ वेद, श्रुति, समुद्र, सागर, अब्धि, अम्भोध, अम्भोधि, जलधि, उदधि, जलनिधि, सलिलाकर, विपनिधि, वारिधि, पयोधि, पयोनिधि, अम्बुधि, केन्द्र, वर्ण, आश्रम, युग, तुर्य, कृत, अय, आय, दिश्, बन्धु, कोष्ठ, गति, कषाय, इत्यादि।

५ बाण, शर, शस्त्र, सायक, इषु, भूत, पर्व, प्राण, पवन,[3] पाण्डव, अर्थ, विषय, महाभूत, तत्त्व, भाव, इन्द्रिय, रत्न, करणीय[4], व्रत, इत्यादि।

६ रस, अंग, काय, ऋतु, मासार्ध, दर्शन, राग, अरि, शास्त्र, तर्क, कारक, लेश्य, द्रव्य, खर, कुमारवदन, षण्मुख, इत्यादि।

[1] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टिकोणो से वस्तुओ को देखने की रीति को नय कहते हैं।

[2] इस शब्द को महावीर ने ३ के अर्थ में लिखा है, अन्य लोगो के मत से इसका अर्थ ५ है।

[3] देखो सिद्धान्त शेखर, १ २७, सिद्धान्त शिरोमणि, १, १० २। भट्टोत्पल ने इसे ७ के अर्थ में प्रयोग किया है, (बृहत्संहिता, अध्याय २, पर भट्टोत्पल की टीका देखिए)। अलबेरूनी की सूची में इस शब्द का अर्थ ६ दिया गया है, जो अशुद्ध है।

[4] जैनो के मतानुसार, अहिंसा, सुनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को करणीय (अर्थात् करने योग्य) कहते हैं।

[5] इस शब्द को महावीर ने प्रयोग किया है।

७ नग, अग, भूभृत्, पर्वत, शैल, अचल, अद्रि, गिरि, ऋषि, मुनि, यति, अत्रि, वार, स्वर, धातु, अश्व, तुरग, वाजि, हय, छन्द, धी, कलत्र, तत्त्व[1], द्वीप, पन्नग[2], भय[3], मातृका, व्यसन, इत्यादि।

८ वसु, अहि, नाग, गज, दति, द्विरद, दिग्गज, हस्तिन्, इभ, मातंग, कुजर, द्वीप, पुष्करिन्, सिन्धुर, सर्प, तक्ष, सिद्धि, भूति, अनुष्टुभ्, मगल, अनीक, कर्मन्[4], दुरित, तनु[5], दिक्[6], मद[7], इत्यादि।

९ अक, नन्द, निधि, ग्रह, रध्र, छिद्र, द्वार, गो[8], उपेन्द्र, केशव, ताक्ष्यध्वज, दुर्गा, पदार्थ[9], लब्ध, लब्धि, इत्यादि।

१० दिश्, दिक्, दिशा, आशा, अगुली, पक्ति, ककुभ्, रावणशिर, अवतार, कर्मन्, इत्यादि।

११ रुद्र, ईश्वर, मृड, हर, ईश, भव, भर्ग, शूलिन्, महादेव, अक्षौहिणी, इत्यादि।

१२ रवि, सूर्य, इन, अर्क, मार्तण्ड, द्युमणि, भानु, आदित्य, दिवाकर, मास, राशि, व्यय, इत्यादि।

१३ विश्वेदेवा, विश्व, काम, अतिजगती, अघोष इत्यादि।

१४ मनु, विद्या, इन्द्र, शक्र, लोग[10], इत्यादि।

१५ तिथि, घस्त्र, दिन, अह्न्, पक्ष[11], इत्यादि।

[1] इस शब्द को महावीर ने प्रयोग किया है, क्योकि जैन लोग ७ तत्त्व मानते हैं। अन्य लोगो ने इसे ५ के अर्थ में प्रयोग किया है।

[2] इस शब्द को महावीर ने प्रयोग किया है।

[3] इस शब्द को महावीर ने प्रयोग किया है।

[4] महावीर ने इसे ८ के लिए प्रयोग किया है, अन्य लोगो ने १० के लिए।

[5] इस शब्द को महावीर ने प्रयोग किया है।

[6] यह शब्द ८ और १० दोनो के लिए प्रयुक्त हुआ है। दिश् और दिक् शब्दो का प्रयोग ४ के अर्थ में भी मिलता है।

[7] इस शब्द को केवल महावीर ने प्रयोग किया है।

[8] यह शब्द १ के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है।

[9] इस शब्द को केवल महावीर ने प्रयोग किया है।

[10] इसका ३ के लिए भी प्रयोग हुआ है।

[11] इसका २ के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है।

१६ नृप, भूप, भूपति, अष्टि, कला, इत्यादि।
१७ अत्यष्टि।
१८ धृति।
१९ अतिधृति।
२० नख, कृति, इत्यादि।
२१ उत्कृति, प्रकृति, स्वर्ग, इत्यादि।
२२ आकृति, जाति (?), इत्यादि।
२३ विकृति।
२४ गायत्री, जिन, अर्हत्, सिद्ध, इत्यादि।
२५ तत्व[1]।
२७ नक्षत्र, उडु, भ, इत्यादि।
३२ दन्त, रद, इत्यादि।
३३ देव, अमर, त्रिदश, सुर, इत्यादि।
४८ जगती।
४९ तान।

### स्थान-मान के बिना शब्दांकों का प्रयोग

वेदों में अंक सूचित करने के लिए वस्तुओं के नामों का प्रयोग नहीं मिलता, परन्तु ऐसे उदाहरण अवश्य हैं जहाँ वस्तुओं को सूचित करने के लिए अंकों का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में 'वर्ष' के अर्थ में 'द्वादश' का प्रयोग किया गया है[2], और अथर्ववेद में 'सात वस्तुओं के समूह (सात समुद्र, इत्यादि)' के अर्थ में 'सप्त' का प्रयोग किया गया है।[3] तथापि ऐसे उदाहरण भी हैं, जहाँ 'भिन्नों' को सूचित करने के लिए शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे, कला=$\frac{१}{१६}$, कुष्ठ=$\frac{१}{१२}$, शफ=$\frac{१}{४}$।

शब्दों द्वारा पूर्णसंख्या सूचित करने के सबसे प्राचीन उदाहरण २०० ई० पू०

[1] यह शब्द प्राय ५ को सूचित करता है, महावीर ने ७ के अर्थ में भी इसका प्रयोग किया है।

[2] 'देव हिति जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतु नरोन प्रमिनन्त्येते. '(७, १०३, १)।

[3] 'ओ ये त्रिसप्त परियन्ते ' (१ १ १)।

के लगभग, शतपथ ब्राह्मण[1] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] मे, मिलते है। छादोग्य उपनिषद् मे भी अनेक उदाहरण है। वेदाग ज्योतिप[3] (१,२०० ई० पू०) मे भी कई स्थानो पर अको के अर्थ मे शब्दो का प्रयोग हुआ है। कात्यायन[4] और लाट्यायन के श्रौतसूत्रो मे २४ के अर्थ मे 'गायत्री' का और ४८ के अर्थ मे 'जगती' का प्रयोग किया गया है।

तो भी इतने प्राचीन काल मे अक-सूचक शब्द कौतुक-मात्र ही थे, अको के अर्थ मे उनका प्रयोग विरल था। इसके अतिरिक्त हमे ऐसे उदाहरण मिले है जिनसे विदित होता है कि शब्दो को दिये गये अकात्मक मानो मे कुछ अस्थिरता भी थी। उदाहरणार्थ, एक ही ग्रथ, ऐतरेय ब्राह्मण मे, 'विराट्' शब्द का प्रयोग एक स्थान पर १० के अर्थ मे और दूसरे स्थान पर ३० के अर्थ मे किया गया है। स्थान-मान सिद्धान्त अज्ञात होने के कारण बडी-बडी सख्याओ को सूचित करने के लिए शब्द सकेतो का प्रयोग नही हो सकता था, और उन सख्याओ को अक-सज्ञाओं द्वारा अथवा सख्या को टुकडे-टुकडे करके व्यक्त किया जाता था। स्थान-मान सिद्धान्त के बिना ही शब्दाको का प्रयोग लगभग २०० ई० पू० मे, पिगल के छद सूत्र मे, मिलता है। प्रतीत होता है कि शब्दाक-पद्धति मे स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग २०० ई० पू० और ३०० ई० के बीच मे किसी समय हुआ।

[1] 'चतुष्टोमेन कृतेन अयाना ' (१३ ३ २ १)। इसमें 'कृत' शब्द का ४ के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

[2] 'ये वं चत्वार स्तोमा कृत तत् ' (१ ५ ११. १)।

[3] रूप=१, अय=४, गुण=युग=१२, भसमूह=२७। देखिए (याज्यो २३; आज्यो ३१), (याज्यो १३, आज्यो ४), (आज्यो १९), (याज्यो २५,) (याज्यो २०), क्रमानुसार। (याज्यो=याजुष-ज्योतिष, आज्यो=आर्च ज्योतिष)

[4] कात्यायन श्रौत सूत्र (वेबर का सस्करण), पृ० १०१५।

९ ४ ३१।

[6] उदाहरणार्थ,

दशायुतानामयुत सहस्राणि च विंशति।

कोट्य षष्टिश्च षट्चैव ह्यस्मिन् राजन्! मृधे हता ॥ (महाभारत, स्त्रीपर्व, २६ ९)। यहां पर ६६०१३०००० निम्न प्रकार से लिखा गया है १०(१०,०००) + १०,००० + २०(१,०००) + ६०(१,००,००,०००) + ६(१,००,००,०००)।

### शब्दाक-पद्धति में स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग

स्थान-मान सिद्धान्त के माथ शब्दाकों का आधुनिक रूप मे प्रयोग मबमें पहले अग्निपुराण[1] मे मिलता है, जिमकी रचना ईसवी सन् की प्रारभिक शताब्दियो मे हुई थी। भट्टोत्पल ने अपनी वृहत्महिता-विवृति मे मूल पुलिश-मिद्धान्त[2] से एक उद्धरण दिया है जिसमे शब्दाक-पद्धति का प्रयोग मिलता है। उद्धरण मे प्रयुक्त सख्या है—ख (०) ख (०) अष्ट (८) मुनि (७) राम (३) अश्वि (२) नेत्र (२) अष्ट (८) शर (५) रात्रिपा (१) = १,५८,२२,३७,८००। उक्त ग्रथ[3] मे पुलिश-सिद्धान्त के और भी बहुत से उद्धरण हैं जिनमे शब्दाको का प्रयोग किया गया है। सूर्य-सिद्धान्त (ल० ३०० ई०), पचसिद्धान्तिका[4] (ल० ५५० ई०), महा- और लघु-भास्करीय[5] (६२९ ई०), ब्राह्म स्फुट-सिद्धान्त[6] (६२८ई०), त्रिशतिका[7] (ल० ७५० ई०), और गणित-सार-सग्रह[8] (८५० ई०) आदि बाद के ज्योतिष तथा गणित के ग्रथ, सभी शब्दाको का प्रयोग करते हैं।[9]

[1] अग्निपुराण, बगवासी सस्करण, कलकत्ता (१३१४ विक्रम सवत्), अध्याय १२२-२३, १३१, १४०, १४१, ३२८-३३५। आधुनिक काल के सबसे बडे पुराण-वेत्ता पार्जिटर का कथन है कि पुराण ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो के बाद के नहीं हो सकते। (देखिए, जर्नल रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१२, पृ० २५४-५५)। सभी विद्वान मानते है कि अग्निपुराण सबसे अधिक प्राचीन पुराण है।

[2] वृहत्महिता, सुधाकर द्विवेदी द्वारा सपादित, बनारस, पृ० १६३।

[3] पूर्वोक्त, पृ० २७, २९, ४६, ५१, इत्यादि। हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि ये उद्धरण मूल ग्रथ से है अथवा बाद के किसी सस्करण से।

[4] १ ८, ८ १, इत्यादि।

[5] महा-भास्करीय, ७, लघु-भास्करीय, १।

[6] १ ५१-५५, इत्यादि।

[7] सूत्र ६, उदाहरण ६, इत्यादि।

[8] २ ७, ९, इत्यादि।

[9] यहाँ पर दिये गये प्रमाण के होते हुए भी जी० आर० के का कथन (देखिए इंडियन मैथेमेटिक्स, कलकत्ता, १९१५, पृ० ३१) कि शब्दाक नवीं शताब्दी में पूर्व से भारतवर्ष में लाये गये थे यह प्रदर्शित करता है कि या तो वे भारतीय गणित के ग्रथो के अनभिज्ञ है, अथवा उन्होने जान-बूझकर असत्य भाषण किया है।

## पुरालेखों में शब्दाक

शब्दाको के प्रयोग के प्राचीनतम पुरालेख-सम्बन्धी उदाहरण दो सस्कृत के अन्तर्लेखो[1] मे मिलते है। ये अन्तर्लेख कम्बोडिया मे, जो प्राचीन काल मे एक भारतीय उपनिवेश था, प्राप्त हुए है, और इनके रचना-काल क्रमानुसार ६०४ ई० और ६२५ई० है। इसके बाद उक्त अको का प्रयोग जावा के एक सस्कृत अतर्लेख मे मिलता है, जो आठवी शताब्दी का है।[2]

स्वय भारतवर्ष मे तो यद्यपि ज्योतिषियो और गणितज्ञो मे तीसरी अथवा चौथी शताब्दी से ही इन अको का प्रयोग होता चला आ रहा है, तो भी बहुत समय बाद तक इनको अन्तर्लेखो मे प्रयोग करने की प्रथा नही हुई। सबसे अधिक प्राचीन हिन्दू अन्तर्लेख जिनमे इन अको का प्रयोग हुआ है ८१३ ई०[3] और ८४२ ई०[4] के लिखे हुए है। इसके बाद की शताब्दी मे इनका प्रयोग ९४३ ई०[5] मे प्रसारित पूर्वी चालुक्य अम्म द्वितीय के पट्टो मे मिलता है। आगे के काल मे पुरालेख-सम्बन्धी उदाहरण अधिक शीघ्रता से मिलते है। बहुत-सी हस्तलिपियो मे भी, जिनमें तिथियाँ पद्यबद्ध है, इस सकेत का प्रयोग मिलता है।[6]

## उत्पत्ति और प्रारम्भिक इतिहास

यह ध्यान देने योग्य है कि शब्दाको के प्रयोग से बनी हुई सख्यायो मे अको का क्रम उस क्रम से विपरीत होता है जो कि उसी सख्या को अको के द्वारा लिखने मे प्रयोग किया जाता है। इस तथ्य से कुछ विद्वान् भ्रमवश

[1] आर० सी० मजूमदार, एशन्ट इडियन कालोनीज इन दि फार ईस्ट,—चपा, जिल्द १, लाहौर, १९२७, देखिए अन्तर्लेख न० ३२, ३९, और ४०, ४१, ४३, ४४।

[2] इडियन ऐटिक्वेरी, ११, पृ० ४८।

[3] दि कडब प्लेट्स, इडियन ऐटिक्वेरी, २१, पृ० ११, फ्लीट द्वारा सदिग्ध घोषित (कनारीज डिनैस्टीज, बाम्बे गैजेट्टियर, १, २. ३९९, नोट ७), देखिए बूलर, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० ८६, नोट ४।

[4] दि धोलपुर इस्क्रिप्शन, जाइट्श्रृफ्ट डेर डायशेन मार्गेन्लेंडिशेन गेशेलशाफ्ट, जिल्द ४०, पृ० ४२।

[5] इडियन ऐटिक्वेरी, ७, पृ० १८।

[6] बूलर, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० ८६, नोट ७।

इस निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं कि दशमलव-सकेत और शब्दांकों की उत्पत्ति दो भिन्न-भिन्न स्थानों में हुई। जी० आर० के तो इतनी दूर पहुँच गये हैं कि उन्होंने सुझाव दिया है कि शब्दांक भारतवर्ष में पूर्व से आये। इस सुझाव की असत्यता तो केवल इसी से सिद्ध होती है कि संस्कृत के अतिरिक्त किसी भी भाषा में शब्द संकेत के प्राचीन-कालिक प्रयोग का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। और भारतवर्ष के अतिरिक्त किसी भी देश में चौथी शताब्दी पर्यन्त, जबकि भारतीय ज्योतिषी और गणितज्ञ शब्दांक-पद्धति को सामान्य रूप में प्रयोग में लाते थे, शब्दांक-पद्धति के प्रयोग का कोई चिह्न भी नहीं मिलता।

इस पद्धति के विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में हम देखते हैं कि शब्दांकों के स्थान पर अंक-संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता था, जो कि अंकों की भांति ही बायीं ओर से दाहिनी ओर को लिखे जाते थे। इसका एक उदाहरण बक्षाली हस्त-लिपि[1] (लगभग २०० ई०) में मिलता है, जिसमें संख्या

२६५३२९६२२६४४७०६४९९ ८३२१८

निम्न प्रकार से व्यंजित की गयी है—

षड्विंशश्च (२६) त्रिपंचाश (५३) एकोनत्रिंश (२९) एवं च
द्वा [षष्टि] (६२) षड्विंश (२६) चतुश्चत्वारिंश (४४) सप्तति (७०)
चतुःषष्टि (६४) न [वनवति] (९९) सनन्तरम्
त्रिरशीति (८३) एकविंश (२१) अष्ट (८) पकम्।

तथापि उसी हस्तलिपि में ५४ को 'चतु (४) पंच (५)' में व्यंजित किया गया है, और यह क्रम पहलेवाले क्रम का ठीक उलटा है।[2] जिनभद्र गणि (५७५ ई०) ने संख्याओं को सूचित करने में, बायीं ओर से दाहिनी ओर के क्रम में, शब्दांकों का प्रयोग किया है।[3] इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में, शब्दांक पद्धति में, अंक-स्थापन के क्रम के विषय में मतभेद था।

[1] पत्र ५८ (अ)। बिन्दियाँ यह सूचित करती हैं कि कुछ अंक लुप्त हैं। स्पष्ट है कि प्रश्न को हल करने के लिए एक बड़ी संख्या को अंकों में लिखने की आवश्यकता है। इस प्रकार का प्रश्न हमें किसी बाद के ग्रंथ में नहीं मिला। देखिए बी० दत्त, 'दि बक्षाली मैथेमेटिक्स,' बुलेटिन कलकत्ता मैथेमेटिकल सोसायटी, जिल्द २१, पृ० २१।

[2] पत्र २७ (अ)।

[3] बृहत्-क्षेत्र-समास, १ ६९ आदि।

पुलिश, वराहमिहिर और लल्ल आदि पहले के गणितज्ञो ने शब्दांको का अत्यधिक प्रयोग करके दाहिनी ओर से बायी ओर को लिखने की एक पद्धति सी डाल दी, जिसका बाद के लेखको ने सामान्य रूप से अनुसरण किया।

दाहिनी ओरसे बायी ओर के क्रम को मान्यता देने का क्या कारण था, इस बात का स्पष्टीकरण किसी प्राचीन ग्रथ मे नही मिलता। हम लोगो को इसका निम्नलिखित कारण प्रतीत होता है, और हमे विश्वास है कि सभवत यही इसका वास्तविक कारण है उद्देश्य यह था कि शब्दाको का चुनाव इस प्रकार हो कि सख्या-सूचक शब्द इष्ट छद मे ठीक-ठीक बैठ जायँ। चुनाव को आसान करने के लिए इष्ट सख्या को पहले अको मे लिख लेते थे। उचित शब्दो का चुनाव अब स्वभावत इकाई-वाले स्थान से आरम्भ होगा और बायी ओर अग्रसर होगा, जैसा कि गणित के परिकर्मो मे होता है। यह क्रम 'अकाना वामतो गति' (अर्थात्, अको की गति बायी ओर को होती है) के नियम के अनुरूप ही है, जो कि भारतीय गणितज्ञो मे अत्यत प्रसिद्ध था। अतएव दाहिनी ओर से बायी ओर को अक लिखने के क्रम का कारण इस बात मे निहित है कि हिन्दू गणितज्ञ शब्द-सख्याओ की रचना की विधि को एक प्रकार के गाणितिक परिकर्म के रूप मे देखना चाहते थे।

### आविष्कार का समय

अग्नि-पुराण मे, जो कि चौथी शताब्दी या इसके पहिले का लिखा हुआ है, शब्दाको का प्रयोग यह सूचित करता है कि शब्दाक-पद्धति उस समय (अर्थात चौथी शताब्दी मे) भारतवर्ष मे सामान्य रूप से प्रसिद्ध हो चुकी होगी, क्योकि पौराणिक ग्रथ जन-साधारण के मतलब के होते है। पुलिश-सिद्धान्त और सूर्य सिद्धान्त मे इसका विस्तृत प्रयोग मिलने से यह भी सूचित होता है कि चौथी शताब्दी मे यह पद्धति पूर्णतया विकसित हो चुकी थी। अतएव इसका आविष्कार कम से कम दो शताब्दी पहले हो चुका होगा। इस प्रकार इस आविष्कार का समय १०० ई० से २०० ई० तक माना जा सकता है। इस निष्कर्ष को इस बात से समर्थन मिलता है कि इस सकेत का प्रयोग कम्बोडिया मे प्राप्त ६०५ ई० के एक अन्तर्लेख मे मिलता है, जिसमे यह विदित होता है कि छठी शताब्दी के अत तक इस पद्धति के ज्ञान का क्षेत्र यूरोप के तुल्य भूभाग मे फैल चुका था।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि दशमलव स्थान-मान सिद्धान्त और शब्दाक-पद्धति का आविष्कार एक साथ नही हुआ था। जब शब्दाक-पद्धति मे स्थान-मान

सिद्धान्त को प्रयोग करने विचार हुआ, उसके वहुत समय पहले दशमलव सकेत का अस्तित्व रहा होगा तथा गणितज्ञो मे इसका सामान्य रूप से प्रयोग भी होता रहा होगा। इस प्रकार हम देखते है कि आरभ म (अर्थात् २०० ई० के लगभग) स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग, जैसा कि आशा की जानी चाहिए, अक सज्ञाओ के साथ किया जाता होगा। बाद मे छन्दो की सुविधा के लिए अक सज्ञाओ के स्थान मे शब्दाको का प्रयोग होने लगा होगा। अन्त मे दाहिनी ओर से बायी ओर का क्रम भी ग्रहण कर लिया होगा, क्योकि गणितज्ञ लोग शब्द-सख्याओ की रचना को एक प्रकार के गणितिक परिकर्म के रूप मे देखना चाहते थे।

उपर्युक्त विचारो के आधार पर दशमलव स्थान-मान सकेत के आविष्कार का समय, शब्दाक-पद्धति के आविष्कार होने से कम से कम दो शताब्दी पहले निर्धारित किया जा सकता है। परन्तु, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, शब्दाक-पद्धति का आविष्कार पहली शताब्दी के लगभग हुआ था, अतएव स्थान-मान सकेत के आविष्कार का समय पहली शताब्दी ई० पू० मानना पडेगा। यह निष्कर्ष उस निष्कर्ष के अनुरूप ही है जो पुरालेख-सम्बन्धी प्रमाणो के आधार पर स्थापित किया जा चुका है।

## ११ अक्षर-सकेत

अको को सूचित करने के लिए वर्णमाला के अक्षरो का प्रयोग सबसे पहले पाणिनि की अष्टाध्यायी मे मिलता है। पाणिनि ने सस्कृत वर्णमाला के स्वरो का अक्षरो के अर्थ मे प्रयोग किया है।[1] परन्तु पाँचवी शताब्दी तक इस अक्षर-सकेत के विस्तृत प्रयोग का कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नही है। पांचवी शताब्दी के लगभग कई लेखको ने, सख्याओ को पद्य मे प्रयोग करने के प्रधान उद्देश्य

[1] पाणिनि की व्याकरण (अष्टाध्यायी) में कुछ सूत्र ( नियम ) ऐसे हैं जो आगे के कुछ सूत्रो में ही प्रयुक्त होते हैं सब में नहीं। ऐसे सूत्रो को पाणिनि ने स्वर चिह्नो से अकित कर दिया है। सूत्र १ ३ ११ के भाष्य में पतजलि ने लिखा है कि, कात्यायन (चौथी शताब्दी ई० पू०) के अनुसार, पाणिनि ने सूत्रो के ऊपर एक ऐसा अक-सूचक चिह्न लिख दिया है, जो यह बताता है कि वे सूत्र आगे के कितने सूत्रों तक प्रयुक्त होगे। कैय्यट ने इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि पाणिनि के सूत्र ५ १ ३० के ऊपर लिखा हुआ स्वर 'इ' यह बतलाता है कि वह सूत्र आगे के २ सूत्रो में भी लगेगा। इस प्रकार, पाणिनि के अनुसार अ= १, इ= २, उ= ३, इत्यादि।

मे, अक्षर-सकेत की भिन्न-भिन्न पद्धतियो का आविष्कार किया। शब्द-सख्याओ मे शब्द बाहुल्य होने से, कभी-कभी एक ही सख्या को लिखने के लिए एक पूरे श्लोक अथवा एक से अधिक श्लोको की आवश्यकता पडती है। शब्द-सख्याओ का यह लक्षण, कुछ भारतीय ज्योतिषियो को, जो लघुता और सक्षेपता को वैज्ञानिक कृति का प्रधान गुण समझते थे, स्वभावत अच्छा नही लगा। अतएव ज्योतिष ग्रथो मे शब्द सख्याओ को बदलने के लिए अक्षर-सकेत का आविष्कार किया गया। भिन्न-भिन्न अक्षर-सकेत पद्धतियाँ[1], दशमलव स्थान-मान सकेत के साधारण प्रकातर है जिनमे अको के स्थान मे अक्षरो का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि भारतीय अक्षर-सकेत पद्धतियो का प्रयोग, यूनानी और अरबी पद्धतियो के प्रतिकल, न तो साधारण जनता द्वारा किया गया और न गणना करने मे ही हुआ। उनका ज्ञान विद्वानो तक ही सीमित रहा और उनका प्रयोग केवल सख्याओ को पद्यबद्ध करने मे ही हुआ।

**आर्यभट प्रथम का अक्षर-सकेत**

अक्षर-सकेत की एक पद्धति का आविष्कार आर्यभट प्रथम (जन्म ४७६ ई०) ने किया था, जिसका प्रयोग करके उन्होने ज्योतिषोपयोगी सख्याओ (बीजो) को दशगीतिका[2] मे पद्यबद्ध किया है। इस सबध मे उन्होने दशगीतिका में निम्नलिखित नियम दिया है

वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात् ङमौ य।
खद्विनवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा॥

[1]कुछ अक्षर-पद्धतियाँ, जिनका प्रयोग पत्राकन में मिलता है, स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग नहीं करतीं। इन पद्धतियो का आविष्कार लिपिकारो ने किया था, जो कदाचित् विद्वान् बनना चाहते थे और अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करना चाहते थे। इन पद्धतियो का प्रयोग केवल लिपिकारो तक ही सीमित रहा।

[2]दशगीतिका में, जैसा नाम से सूचित होता है, दस पद्य होने चाहिए, परन्तु वास्तव में उसमें १३ पद्य है। इनमें से पहिले में परब्रह्म को प्रणाम करके वर्ण्य वस्तु का सकेत किया गया है, दूसरे में पुस्तक में प्रयुक्त अक्षर-सकेत का नियम समझाया गया है और १३वें में विषय का माहात्म्य वर्णित है। अतएव इन पद्यो को नहीं गिना गया है। देखिए, डब्ल्यू० ई० क्लार्क, "हिन्दू-अरेबिक न्यूमरल्स", इडियन स्टडीज इन ऑनर आव चार्ल्स रॉकवेल लैनमन, (हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), १९२९, पृ० २३१।

निम्नलिखित अनुवाद मे लेखक का अभिप्रेत अर्थ दिया गया है

"वर्गाक्षर[1], जिनका आदि 'क' है, वर्गस्थानो[2] मे (प्रयुक्त किये गये है), और अवर्गाक्षर (जिनका आदि 'य' है) अवर्गस्थानो[3] मे (प्रयुक्त किये गये है)। (इस प्रकार) ङमौ (=ङ+म) का मान वही है जो 'य' का। नौ स्वर, शून्यो के (वर्ग और अवर्ग स्थानवाले) नौ जोडो के लिए (प्रयुक्त किये गये है)। यही (क्रिया) नौ (वर्ग और अवर्ग स्थानो) के बाद भी (प्रयुक्त की जा सकती है)।"

ह्विश[4], ब्राख्खाउस[5], कर्न[6], बार्थ[7], रोडे[8], के[9], फ्लीट[10], दत्त[11], गागुली,[12] दास[13], लाहिडी[14] और क्लार्क[15] ने उक्त नियम का विवेचन किया है।

'ख' का अनुवाद 'स्थान (प्लेस)' (जो क्लार्क ने किया है) अथवा 'जगह (स्पेस)' (जो फ्लीट ने किया है) अशुद्ध है। सस्कृत साहित्य मे 'अकस्थान' के अर्थ मे 'ख' का प्रयोग हमे कही नही मिला। 'ख' का अर्थ है, रिक्त, आकाश, इत्यादि, गणित और ज्योतिष के ग्रथो मे यह शब्द 'शून्य' के अर्थ मे प्रयोग किया

[1] क्, ख्, ग्, घ्, ङ (कवर्ग), च्, छ्, ज्, झ्, ञ (चवर्ग), ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् (टवर्ग), त्, थ्, द्, ध्, न् (तवर्ग), प्, फ्, ब्, भ्, म् (पवर्ग), ये २५ अक्षर वर्गाक्षर कहलाते है। य्, र्, ल्, व्, श्, ष्, स्, और ह् अवर्गाक्षर कहलाते है।

[2] वर्गस्थान का यहाँ पर अर्थ है, ओज-स्थान या विषम-स्थान।

[3] अवर्गस्थान का यहाँ पर अर्थ है, युग्म-स्थान या सम-स्थान।

[4] ट्राजैक्शस आँव दि लिटरेरी सोसायटी आँव मद्रास, १, १८२७, पृ० ५४।

[5] जाइट्श्रृफ्ट फ्युर डी कुडे डेस मार्गेनलैडेस, जिल्द ४, पृ० ८१।

[6] जर्नल आँव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी,१८६३, पृ० ३८०।

[7] ऊव्रे, जिल्द ३, पृ० १८२।

[8] जर्नल एशियाटिक, १८८०, २, पृ० ४४०।

[9] जर्नल आँव दि एशियाटिक सोसायटी आँव बगाल, १९०७, पृ० ४७८; इडियन मैथेमेटिक्स, कलकत्ता, १९१५, पृ० ३०, दि बक्षाली मैन्युस्क्रिप्ट, कलकत्ता, १९२७, पृ० ८१।

[10] जर्नल आँव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९११, पृ० १०९।

[11] साहित्य-परिषद्-पत्रिका, १९२९, पृ० २२।

[12] बुलेटिन कलकत्ता मैथेमेटिकल सोसायटी, १९२६, पृ० १९५।

[13] इडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, ३, पृ० ११०।

[14] ससार का इतिहास (बँगला भाषा में), जिल्द ४, पृ० १७८।

[15] आर्यभटीय आँव आर्यभट, शिकागो, १९३०, पृ० २।

गया है। अतएव क्लार्क के अनुवाद मे 'स्थानो के दो नव (दि टू नाइन्स ऑव प्लेसेज)' के स्थान मे 'शून्यो के दो नव (दि टू नाइन्स ऑव जीरोज)' होना चाहिए। क्लार्क ने 'ख' का अनुवाद 'शून्य न करने का निम्न कारण दिया है "यह इस कथन के तुल्य है कि प्रत्येक स्वर, (उसमे जुडे हुए) व्यजन के अकात्मक मान मे दो शून्य जोड देता है। यह (नियम) वस्तुत स्वर इ' और उसके बाद के स्वरो के लिए उपयुक्त है, परन्तु स्वर 'अ' दो शून्य नही जोडता। वह या तो एक भी शून्य नही जोडता अथवा केवल एक शून्य जोडता है, जो इस बात पर निर्भर है कि उसका प्रयोग वर्गाक्षर के साथ हुआ है अथवा अवर्गाक्षर के साथ। अतएव मुझे अधिक सभव यह प्रतीत होता है कि यहाँ पर एक फलक से अभिप्राय है जिसमे ऊर्ध्वाधर कोष्ठ बने हो, न कि शून्य से, जैसा कि रोडे का विचार है।"

स्वर शून्य नही जोडते। (क्लार्क की) व्याख्या किसी भी स्वर के लिए ठीक नही बैठेगी। उदाहरणार्थ, उनकी व्याख्या के अनुसार, स्वर 'इ' ग मे दो शून्य जोडेगा परन्तु य मे तीन शून्य जोडेगा। 'ख' का वास्तविक अभिप्राय क्या है, टीकाकार सूर्यदेव ने निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त किया है "खानि शून्योपलक्षितानि सख्याविन्यासस्थानानि। तेषा द्विनवक, खद्विनवकम्। तस्मिन् खद्विनवके शून्योपलक्षितस्थानाष्टादश (१८) इत्यर्थ।" अर्थात् "ख से अभिप्राय सख्या लिखने के उन स्थानो मे है जो शून्य के चिह्नो द्वारा प्रदर्शित किये जाते है। ऐसे १८ स्थान खद्विनक है। उन खद्विनको मे अर्थात् शून्यचिह्नो द्वारा प्रदर्शित १८ स्थानो मे, यह अर्थ है।" यहाँ पर हम यह बता दे कि हिन्दू लोग अक-स्थानो को शून्यो द्वारा प्रदर्शित करते है। भास्कर प्रथम (६२९ ई०) ने गणितपाद के दूसरे श्लोक, जिसमे अकस्थानो की सज्ञाएँ दी गयी है, की व्याख्या मे लिखा है

'न्यासश्च स्थानानाम् ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०'

अर्थात्, 'स्थानो का लेखन (करने पर मिलता है)—० ० ० ० ० ० ० ० ० ०।'

भास्कर प्रथम ने शून्य के अर्थ मे 'ख' शब्द की जो व्याख्या की है वह अधिक स्पष्ट है। उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या मे उन्होने लिखा है [1] "खद्विनवके स्वरा

[1] 'खद्विनवके स्वरा नववर्गे। खानि शून्यानि, खाना नवक खद्विनवक, तस्मिन् खद्विनवके, अष्टादशसु शून्योपलक्षितेषु ।'

नव वर्गे। 'ख' का अर्थ शून्य है, खद्विनवक का अर्थ शून्यो का नवक है, खद्विनवके का अर्थ है 'उस शून्यों के नवक में', अर्थात् 'शून्यो द्वारा प्रदर्शित १८ अकस्थानो में'।'

अतएव यद्यपि यहाँ पर 'ख' 'अकस्थान' का समानार्थक है।'' तो भी 'ख को शून्य' से अनुवाद करना चाहिए। यहाँ पर अभिप्राय शून्य के चिह्न से है, न कि उर्ध्वाधिर कोष्ठो मे विभक्त फलक मे।

'नवान्त्यवर्गे वा' का अनुवाद करने में क्लार्क को बडी कठिनाई का सामना करना पडा है। फ्लीट का सुझाव कि 'वा' के स्थान मे 'ही' होना चाहिए, स्वीकार नही किया जा सकता। जो अनुवाद हमने ऊपर दिया है वह (भास्कर प्रथम, सूर्यदेव, परमेश्वर और नीलकठ द्वारा की हुई) सभी व्याख्याओ मे सामजस्य रखता है। सब टीकाएँ एकमत है।

**नियम का स्पष्टीकरण**

आर्यभट प्रथम के नियम से उस विधि का ज्ञान होता है जिसमे अक्षर-सकेत मे लिखी हुई सख्या दशमलव स्थान-मान सकेत मे और दशमलव स्थान-मान सकेत मे लिखी हुई सख्या अक्षर-सकेत मे सूचित की जा सकती है।¹ अक-स्थान निम्न प्रकार से सूचित किये जाते है

| ओ | | ऐ | | ओ | | ए | | ऌ | | ॠ | | उ | | इ | | अ | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अ | व | अ | व | अ | व | अ | व | अ | व | अ | व | अ | व | अ | व | अ | व |
| ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० |

जिसमे 'व' वर्गस्थान को और 'अ' अवर्गस्थान को सूचित करता है।

ऊपर के चित्र मे १८ अक-स्थान शून्यो द्वारा सूचित किये गये है तथा ९ जोडो मे विभक्त किये गये है, प्रत्येक जोडे मे एक वर्गस्थान (अर्थात् विषम स्थान) और एक अवर्गस्थान (अर्थात् समस्थान) है।[2] वर्गाक्षरो (अर्थात् 'क' से लेकर 'म'

[1] आर्यभटीय के महाभाष्कार नीलकठ लिखते है: 'खद्विनवके अर्थात् १८ स्थानो में, जिनमें ९ वर्ग स्थान है और ९ अवर्ग स्थान है।' देखिए आर्यभटीय, के० साम्बशिव शास्त्री द्वारा सपादित, त्रिवेन्द्रम, १९३०, पृ० ६।

[2] बाद के लिखे हुए भारतीय ग्रथो में वर्ग और अवर्ग की जगह क्रमानुसार विषम और सम का प्रयोग किया गया है। वर्ग का प्रयोग वर्गसख्या अथवा वर्गाकार क्षेत्र के लिए भी किया गया है।

तक अक्षरो) का प्रयोग केवल वर्गस्थानो (अर्थात् विषम स्थानो) मे होता है, और वे वर्गाक्षर क्रम से १,२,३, , २५ अको को सूचित करते है। अवर्गाक्षरो (अर्थात् 'य' से लेकर 'ह' तक' अक्षरो) का प्रयोग केवल अवर्गस्थानो (अर्थात् सम स्थानो) मे होता है, तथा वे अवर्गाक्षर क्रम से ३,४, , १० अको को सूचित करते है। प्रथम वर्गस्थान और प्रथम अवर्गस्थान मिलकर प्रथम वर्गावर्ग का जोडा वनाते है, द्वितीय वर्गस्थान और द्वितीय अवर्गस्थान मिलकर द्वितीय वर्गावर्ग का जोडा वनाते है, इत्यादि। इस प्रकार के नौ वर्गावर्ग के जोडे क्रमश नौ स्वरो से सूचित किये जाते है। प्रथम वर्गावर्ग का जोडा (अर्थात् इकाई और दहाई के स्थान) 'अ' स्वर से सूचित किये जाते है, द्वितीय वर्गावर्ग का जोडा (अर्थात् सैकडे और हजार के स्थान) 'इ' स्वर से सूचित किये जाते है, इत्यादि। स्वर इस प्रकार स्थानो को—या स्थान सूचित करने की भारतीय पद्धति के अनुसार शून्यो को—सूचित करते है, परन्तु उनका स्वय कोई अकात्मक मान नही है। जब कोई स्वर किसी व्यजन मे जोड दिया जाता है तब वह बताता है कि, स्थान-मान सिद्धान्त के अनुसार, उस व्यजन द्वारा सूचित अक का क्या स्थान होगा। उदाहरणार्थ, जव स्वर 'अ', अवर्गाक्षर य्' मे जोड दिया जाता है, तो उसका अर्थ यह है कि 'य्' द्वारा प्रदर्शित अक ३ का स्थान प्रथम अवर्गस्थान अर्थात् दहाई है। इस प्रकार य=३०। इसके विपरीत, यदि 'अ' किसी वर्गाक्षर मे जोड दिया जाता है, तब वह प्रथम वगस्थान अर्थात् इकाई को सूचित करता है। इस प्रकार ङ=५, म=२५, और ङम[2]=३०। इसी प्रकार 'यि' का अर्थ है कि 'य्' द्वारा प्रदर्शित अक ३ को द्वितीय अवर्गस्थान (अर्थात् हजार के स्थान) मे रखना चाहिए, तथा 'गि' का अर्थ है कि 'ग्' द्वारा प्रदर्शित अक ३ को द्वितीय वर्गस्थान (अर्थात् सैकडे के स्थान) के नीचे रखना चाहिए (क्योकि 'ग्' वर्गाक्षर है)। इस प्रकार यि=३०००, और गि=३००। हो सकता है कि स्थान-

[1] इन अक्षरो को वर्गाक्षर कहने का कारण यह है, कि वे पांच-पांच अक्षरो मे वर्गो (समूहो) में बांट दिये गये है।

[2] जब दो व्यञ्जन एक साथ एक स्वर से जोड दिये जाते है, तब उन दोनो व्यजनो द्वारा प्रदर्शित अको का सवन्ध एक ही 'वर्गावर्ग' के जोडे से रहता है, और वे दोनो अक आपस में जोड दिये जाते है। जैसे इस उदाहरण में, ङम=ङ+म =५+२५=३०।

सूचक शून्य, जो पहले ही लिख लिये जाते थे, मिटा दिये जाते हो और उनके स्थान मे अक्षरो द्वारा प्रदर्शित अक रख दिये जाते हो। इस प्रकार अकहीन स्थानो मे स्वय ही शून्य बचे रहगे। जब ऐसा नही किया जाता, और शून्यो के नीचे अक लिखे जाते है, तब अकहीन स्थानो मे शून्य रखना पडेगे।' अठारह से अधिक अको की सख्या होने पर, अनुस्वार युक्त स्वरो की कल्पना करके, अथवा किसी दूसरी युक्ति से, आगे के स्थानो को लिखकर उपर्युक्त क्रिया की जा सकती है।

इस पद्धति मे एक अच्छाई यह है कि सख्या सूचक शब्द बहुत छोटे बनते है। परतु यह अच्छाई इसके दो बहुत बडे अवगुणो के सामने दब जाती है। पहला अवगुण यह है कि उस पद्धति की अक्षर सख्याओ को उच्चारण करना बहुत कठिन है। कुछ अक्षर-सख्याएँ[२] तो इतनी जटिल है कि उनका उच्चारण हो ही नही सकता। दूसरे अवगुण के कारण इस पद्धति की अक्षर-सख्याओ मे विविधता भी नही आने पाती, जो कि अन्य पद्धतियो मे सभव है।

**कटपयादि पद्धति**

इस पद्धति मे सख्याओ को व्यजित करने के लिए, १ से लेकर ९ अको और शून्य के अर्थ मे सस्कृत वर्णमाला के व्यजनो का प्रयोग किया गया है। इस पद्धति की अक्षर सख्याएँ छोटी होती है और उच्चारण मे प्राय मधुर होती है। चतुर लेखक तो ऐसी अक्षर सख्याएँ बनाने मे सफल हुए है कि जिनके प्रयोग मे अर्थ का तारतम्य भी बना रहता है। यह पद्धति आर्यभट की अक्षर-पद्धति तथा शब्दाक-पद्धति दोनो से श्रेष्ठ है। भारतवर्ष मे इस पद्धति के चार प्रकारा का प्रयोग मिलता है। कदाचित् इसी अनेकरूपता के कारण ही यह पद्धति सामान्य प्रयोग मे नही आयी।

[१] यहाँ पर हम आर्यभटीय (१ ३) से कुछ उदाहरण दे रहे है

| | ऋ | | उ | | इ | | अ | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | ० | |
| ख्युघृ | | घ् | य् | ख् | | | | | |
| | | ४ | ३ | २ | ० | ० | ० | ० | =४३२०००० |
| चयगियिङुशुछ्लृ | ल | छ | श् | ङ | य् | ग | य् | च् | |
| | ५ | ७ | ७ | ५ | ३ | ३ | ३ | ६ | =५७७५३३३६ |

[२] उदाहरणार्थ, निशिबुग्लृक्ष्पृ, भद्लिक्नुखृ, इत्यादि।

पहला प्रकार

कटपयादि पद्धति का पहला प्रकार सद्रत्नमाला के निम्न श्लोक मे वर्णित है

> नञावचश्च शून्यानि सख्या कटपयादय ।
> मिश्रे तूपान्त हल् सख्या न च चिन्त्यो हलस्वर ॥

अर्थात्, "न, ञ, और स्वर शून्य-सूचक है, क्, ट्, प् और य् से आरम्भ होनेवाले व्यजन (क्रम से १, २, ३, आदि) सख्याओ को सूचित करते है। मिश्र-व्यजनो मे (केवल) स्वर-युक्त अतिम व्यजन सख्या सूचक होता है, स्वर-रहित व्यजनो से सख्या न समझना चाहिए।"

अतएव इस पद्धति के अनुसार

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| क्, ट्, प्, य् | अक | १ | को | सूचित करते | है। |
| ख्, ठ्, फ्, र् | , | २ | ,, | ,, | ,, |
| ग्, ड्, ब्, ल् | ,, | ३ | ,, | ,, | , |
| घ्, ढ्, भ्, व् | ,, | ४ | ,, | ,, | ,, |
| ङ्, ण्, म्, श् | ,, | ५ | ,, | ,, | ,, |
| च्, त्, ष् | ,, | ६ | ,, | ,, | ,, |
| छ्, थ्, स् | ,, | ७ | ,, | ,, | ,, |
| ज्, द्, ह् | ,, | ८ | ,, | ,, | ,, |
| झ्, ध् | ,, | ९ | ,, | ,, | ,, |
| ञ्, न् और केवल स्वर | ,, | ० | ,, | ,, | ,, |

स्वर युक्त व्यजनो का अको के स्थान मे प्रयोग उसी भाँति होता है जैसे स्थान-मान सकेत मे। सयुक्त व्यजनो मे केवल अतिम व्यजन का अकात्मक मान होता है। अक्षर-सख्याओ की रचना मे दाहिनी ओर से बायी ओर के क्रम का प्रयोग किया जाता है, जैसे कि शब्दाक-पद्धति मे होता है, अर्थात्, इकाईवाला अक पहले लिखा जाता है, उसके बाद दहाईवाला, उसके बाद सैकडेवाला, इत्यादि। निम्न उदाहरण, जो अतर्लेखो, दानपत्रो, और हस्तलिपियो से उद्धृत किये गये है, इस पद्धति का स्वरूप स्पष्ट कर देगे

| | | |
|---|---|---|
| | ७ ८ ८ १ | |
| (१)[1] | रा - घ - वा - य | =१४८२, |
| | ४ ४ ६ | |
| (२)[2] | भ - व - ति | ६४८, |
| | ५ १ ३ १ | |
| (३)[3] | ग - त्या - लो - के | =१३१५, |
| | ६ ४ ३ १ | |
| (४)[4] | त - त्वा - लो - के | =१३४६, |
| | २ ३ १ ५ ६ ५ १ | |
| (५)[5] | ख - गो - न्त्या - न्मे - प - मा - पे | =१५६५१३२। |

इस पद्धति के उद्गम की खोज ५वी शताब्दी पीछे तक की जा सकती है। सूर्यदेव के एक कथन[6] मे, जो उनकी आर्यभटीय-व्याख्या मे मिलता है, यह प्रतीत होता है कि यह पद्धति आर्यभट प्रथम को ज्ञात थी।

दूसरा प्रकार

आर्यभट द्वितीय (लगभग ९५० ई०) ने उपर्युक्त पद्धति के एक सुधरे हुए रूप का प्रयोग किया है। इस प्रकारान्तर मे व्यजनो के वही मान है जो ऊपर बताये जा चुके है, परन्तु केवल स्वरो या व्यजन युक्त स्वरो का कोई सख्यात्मक मान नही है। और पहले प्रकार के विपरीत, मिश्र व्यजन के प्रत्येक व्यजन का स्थान क्रम के अनुसार अकात्मक मान होता है। अक्षर सख्याओ

[1] एपिग्रैफिया इडिका, जिल्द ६, पृ १२१।

[2] इडियन ऐटिक्वेरी, २, पृ ३६०।

[3] एपिग्रैफिया इडिया, ३, पृ २२६।

[4] एपिग्रैफिया इडिका, ३, पृ ३८।

[5] यह षड्गुरुशिष्य की सर्वार्थानुक्रमणी-व्याख्या का रचना काल है, जो कलियुग-सवत में है। इस का सगत ई० सन् ११८४ है।

[6] देखिए, दशगीतिका के परिभाषा-सूत्र की सूर्यदेव कृत व्याख्या। सूर्यदेव लिखते है "वर्गाक्षराणा सख्याप्रतिपादने कटपयादित्व नञयोश्च शून्यत्वमपि सिद्ध, तन्निरासार्थं कात् ग्रहणम्।" अर्थात्, "वर्गाक्षरो की सहायता से सख्या प्रतिपादन करने में क्-ट्-प्-य् आदि का सख्यात्व और न् तथा ञ् का शून्यत्व प्रसिद्ध है, अतएव उस पद्धति का खण्डन करने के हेतु 'क से आरम्भ करके' कहा गया है।"

मे अक्षरो का क्रम वायी ओर से दाहिनी ओर को होता है, ठीक उमी प्रकार जैसे किमी मख्या को अको मे लिखने मे अको का क्रम होता है।[1] दोनो प्रकारो का अन्तर, अक्षर-मख्या ढ-ज-हे-कु-न-हे-त्-म-भा[2] से स्पष्ट किया जा सकता है। आर्यभट द्वितीय के अनुसार यह अक्षर मख्या ४८८१०८६७४ सख्या को मूचित करती है, और प्रथम प्रकार के अनुमार ४७८०१८८४ सख्या को सूचित करती है।

तीमरा प्रकार

इम पद्धति का तीसरा प्रकारान्तर ब्रह्मा मे प्राप्त पाली भापा की कुछ हस्त-लिपियो मे देखने को मिलता है।[3] यह पद्धति सभी बातो मे पहले प्रकार की पद्धति के ममान है, अन्तर केवल इतना है कि इस पद्धति मे म=५, ह=६ और ळ=९। इन अक्षरो के अकात्मक मानो मे अन्तर होने का कारण कदाचित् यह है कि पाली वर्णमाला मे श और ष अक्षरो का अभाव है।

चौथा प्रकार

चौथा प्रकार वह है जो दक्षिण भारत मे प्रचलित था, और केरल-पद्धति के नाम से विख्यात है। यह भी पहले प्रकार के सदृश है, अन्तर केवल इतना है कि इम पद्धति के अनुमार वनी हुई अक्षर सख्याओ मे अक्षरो का क्रम वायी ओर मे दाहिनी ओर को होता है, ठीक उसी प्रकार जैमे किमी सख्या को अको मे लिखने मे अको का क्रम होता है।

अक्षरपल्ली

प्राचीन हस्तलिपियो के पत्राकन मे जिन अक-सूचक अक्षरादि का प्रयोग मिलता है, उनके आकारो और क्रमो मे विविध प्रकार की विलक्षणताएँ दृष्टि-गोचर होती है। इन अक-सूचक अक्षरो को अक्षरपल्ली, अर्थात् अक्षर-पद्धति,

[1] महामिद्धान्त (१ २) में इस पद्धति का विवरण इस प्रकार दिया गया है

रूपात् कटपयपूर्वा वर्णा वर्णक्रमाद्भवत्यका।
ञ्नौ शून्य प्रथमार्थे आ छेदे ऐ तृतीयार्थे॥

[2] महामिद्धान्त, १, १०।

[3] एल० डी० वार्नेट, जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक मोमायटी, १९०७, पृ० १२७ आदि।

कहते है।[1] इस पद्धति मे अको को सूचित करने के लिए उसी भाषा के अक्षरो का प्रयोग करते है जिस भाषा मे हस्तलिपि लिखी रहती है। नीचे हम प्राचीन हस्तलिपियो मे प्राप्त होने वाले अकसूचक अक्षरादि की एक सूची दे रहे है।[2]

१ =ए, स्व, ऊँ

२ =द्वि, स्ति, न।

३ =त्रि, श्री, म।

४ =ङक, ङ्क, ङ्का, ण्क, र्ण्क, ण्क, र्ण्क, (प्के),

फं, पु।

५ =तृ, तृं, तृ्ग, नृं, हृ, नृ।

६ =फ, फं, फु, घ्र, भ्र, पु, व्या, पल।

७ =ग्र, ग्रा, ग्री, ग्भ्री, ग्र्गा, भ्र।

८ =ह्र, ह्रं, ह्री, द्र।

९ =ओ, उं, उं, उ, ऊ, अ, र्नु।

१० =लृ, लृं, ळ, ण्ट, डा, अ, र्प्ता।

२० =थ, था, र्थ, र्था, घ, घं, प्व, व।

३० =ल, ला, र्ल, र्ला।

४० =प्त, र्प्त, प्ता र्प्ता, प्न।

५० = णू।

६० =चु, वु, घु, थु, र्थु, थू, र्थू, र्घ, र्घु, घु।

७० =चु, चृ, थू, र्थू, र्घू, र्म्त।

८० =[3] पु।

९० =[4]

१००=सु, सू, लु, अ।

२००=सु, सू, र्सू, आ, लू, र्घू।

[1] आकारो के लिए सारिणियां देखिए।

[2] देखिए ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १०७ आदि।

[3] यह उपध्मानीय का चिह्न है।

[4] यह भी उपध्मानीय का चिह्न है।

३०० = स्ता, सू, न्ना, सा, सु, मु सू।

४०० = सो, स्तो, स्ता।

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि एक ही अक को सूचित करने के लिए विभिन्न प्रकार के अक्षरो का प्रयोग किया गया है। यह विभिन्नता बहुधा अल्प है और जान-बूझकर की गयी है, और कदाचित् अक सूचक अक्षरो और साधारण अक्षरो का भेद प्रदर्शित करने के लिए है। कुछ अन्य अवस्थाओ मे अन्तर बहुत अधिक है, जो (बूलर के अनुसार) प्राचीनतर चिह्नो को अशुद्ध पढने के कारण अथवा भिन्न-भिन्न भाषाओ मे उच्चारण-भेद होने के कारण उत्पन्न हो गया है। हस्तलिपियो के पत्राकन मे, अक्षर-सख्याओ को पत्रो के हाशिए पर लिखने की प्रथा है। स्थानाभाव के कारण इन अक्षर-सख्याओ के अक चीनी-पद्धति के अनुरूप एक दूसरे के नीचे लिखे रहते है। यही प्रथा बावर हस्तलिपि मे भी है, जो छठी शताब्दी मे लिखा गया था। बाद की हस्तलिपियो मे, पत्राकन मे, अक्षरपल्ली और दशमलव दोनो पद्धतियो के अको का प्रयोग मिलता है। कभी कभी तो इन अको का सम्मिश्रण भी कर दिया गया है, जैसा कि निम्न उदाहरणो मे है[1]

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ३२ | = | ला<br>३ | , | १०० | = | सु<br>०<br>० | , | १०२ | = | सु<br>०<br>२ | , |
| १३१ | = | मु<br>ला<br>१ | , | १५० | = | मु<br>6<br>० | , | २०९ | = | मु<br>०<br>उं | । |

अक्षरपल्ली का प्रयोग जैन हस्तलिपियो मे सोलहवी शताब्दी तक मिलता है। उस समय के बाद दशमलव पद्धति के अको का ही प्राय प्रयोग हुआ है। मालाबार मे अक्षरपल्ली से मिलती जुलती पद्धति का प्रयोग आज भी होता है।[2]

[1] देखिए ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १०८।

[2] इस पद्धति के अक्षराक यह है —

१ = न, २ = घ्न, ३ = न्य, ४ = ष्क, ५ = झ्र, ६ = हा (ह),
७ = ग्र, ८ = प्र, ९ = द्रे (?), १० = म, २० = ठ, ३० = ल,
४० = प्त, ५० = व, ६० = त्र, ७० = र (त्रु), ८० = च,
९० = ण, १००० = न्ना।

देखिए जर्नल ऑव दि रॉयल ऐस्ट्रानामिकल सोसायटी, १८९६, पृ० ७९०।

**अन्य अक्षर पद्धतियाँ**

(अ) दक्षिण भारत (मालाबार और आन्ध्र), लका, ब्रह्मा और स्याम मे प्राप्त कुछ हस्तलिपियो मे अक-सकेत की एक अन्य पद्धति का प्रयोग मिलता है जिसमे सस्कृत वर्णमाला के १६ स्वरो और ३४ व्यजनो से अक सूचित किये गये है। 'अ' स्वर से युक्त ३४ व्यजन क्रम से १ से लेकर ३४ अको को सूचित करते है, 'आ' स्वर युक्त ३४ व्यजन क्रम से ३५ से लेकर ६८ अको को सूचित करते है, इत्यादि।[1]

(ब) लका से प्राप्त कुछ पाली हस्तलिपियो मे एक अन्य पद्धति का प्रयोग है।[2] इस पद्धति मे १६ स्वरयुक्त 'क' क्रमानुसार १ से लेकर १६ अको को सूचित करते है, १६ स्वर युक्त 'ख' क्रमानुसार १७ से लेकर ३२ अको को सूचित करते है, इत्यादि। इस प्रकार क=१, का=२, कि=३, की=४, कु=५, कू=६, कृ=७, कॄ=८, क्लृ=९, क्लॄ=१०, के=११, कै=१२, को=१३, कौ=१४, कं=१५, कः=१६, इत्यादि।

(स) वियना इपीरिअल लाइब्रेरी में सुरक्षित एक पाली हस्तलिपि में इसी प्रकार का अन्य सकेत मिलता है जिसमें सस्कृत वर्णमाला के १२ स्वरों[3] और ३४ व्यजनो का प्रयोग है। इस पद्धति मे १२ स्वर युक्त 'क' क्रमानुसार १ से लेकर १२ अको को सूचित करते है, १२ स्वर 'ख' क्रमानुसार से १३ से लेकर २४ अको को सूचित करते है, इत्यादि।

इन पद्धतियो का प्रयोग, उत्तरी भारत मे कम से कम तीसरी शताब्दी के बाद नही हुआ। इन का आविष्कार कदाचित् हस्तलिपियो के लिपिकारो ने किया था।

## १२ शून्य का साकेतिक चिह्न

**प्रारभिक प्रयोग**

शून्य के साकेतिक चिह्न का प्रयोग पिंगल (लगभग २०० ई० पू०) ने अपने छदःसूत्र नामक छद शास्त्र के ग्रथ मे किया था। उन्होने इस प्रश्न का

[1] बर्नेल, साउथ इडियन पैलियोग्रैफी, लदन, १८७८, पृ० ७९।

[2] पूर्वोक्त ग्रथ।

[3] ऋ, ॠ, लृ और लॄ स्वर छोड दिये गये है।

हल दिया है कि दो वस्तुएँ 'न' स्थानो पर कितने प्रकार मे स्थापित की जा सकती है, जबकि दोनो वस्तुओ का प्रयोग एक से अधिक बार किया जा सकता हो। पिंगल द्वारा कल्पित दो वस्तुएँ लघु और गुरु मात्राएँ है, जो क्रमश 'ल' और 'ग' से सूचित की गयी है। यह ज्ञात करने के लिए कि लघु और गुरु मात्राओ का प्रयोग करके 'न' मात्राओ वाले छद कितने प्रकार के बन सकते है, पिंगल ने छोटे-छोटे सूत्रो मे निम्न नियम का कथन किया है

"आधा करने पर, अक २ (स्थापित करो),"[1] "१ घटाने पर, शून्य (स्थापित करो),"[2] "शून्य होने पर, २ से गुणा करो,"[3] "आधा करने पर, वर्ग करो"[4]।

उपर्युक्त सूत्रो का अर्थ नीचे दी हुई गणना से स्पष्ट हो जायगा। यह गणना गायत्री छद के लिए है जिसमे ६ मात्राएँ होती है।[5]

| अक स्थापन करने पर | अ ६ | | ब |
|---|---|---|---|
| आधा करने पर | ३ | अतएव २ स्थापित करने पर | २ |
| ३ को आधा करने पर पूर्ण-सख्या नही मिलती अत-एव उसमे से १ घटाने पर | २ | अतएव शून्य स्थापित करने पर | ० |
| आधा करने पर | १ | अतएव २ स्थापित करने पर | २ |
| १ का अर्धीकरण न हो सकने से, १ घटाने पर | ० | अतएव शून्य स्थापित करने पर | ० |

शून्य बचने से क्रिया समाप्त हो गयी।

[1] पिंगल छन्द सूत्र, श्री सीताराम द्वारा सपादित, कलकत्ता, १८४०, ८.२८।
[2] पूर्वोक्त, ८.२९।
[3] पूर्वोक्त, ८.३०।
[4] पूर्वोक्त, ८.३१।
[5] ७ मात्राओ के लिए, निम्न क्रिया है

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १ घटाने पर | ६, | अतएव स्थापन | ० | दूना करने पर | १२८ |
| आधा करने पर | ३, | ,, ,, | २ | वर्ग करने पर | ६४ |
| १ घटाने पर | २, | ,, ,, | ० | दूना करने पर | ८ |
| आधा करने पर | १, | ,, ,, | २ | वर्ग करने पर | ४ |
| १ घटाने पर | ०; | ,, ,, | ० | १ (का) दूना करने पर | २ |

अतएव १२८ उत्तर है।

उपर्युक्त स्थापन के बाद गणना का आरम्भ 'व' कोष्ठक के सबसे नीचेवाले अक ० से होगा। अपने पास अक १ की कल्पना करके, ० के स्थान मे उसे दूना करो, इस प्रकार २ प्राप्त होगा। २ के स्थान मे उसका वर्ग करो, इस प्रकार $२^{२}$ प्राप्त होगा। पुन ० के स्थान मे उसे दूना करो, इस प्रकार $२^{३}$ प्राप्त होगा। अन्तत २ के स्थान मे उसका वर्ग करो, इस प्रकार $२^{६}$ अर्थात् ६४ प्राप्त होगा। अत ज्ञात हुआ कि २ वस्तुओ का ६ स्थानो मे स्थापन ६४ पकार से किया जा सकता है।

उपर्युक्त गणना मे दो प्रकार की क्रियाओ, अर्थात् (१) आधा करने की क्रिया और (२) आधा न होने पर १ घटाने की क्रिया, का अन्तर बतलाने के लिए दो प्रकार के सकेतो की आवश्यकता पडती है। इन दो प्रकार के सकेतो के लिए किन्ही दो अभीष्ट चिह्नो का प्रयोग किया जा सकता था।[1] प्रश्न यह उठता है कि "पिगल ने इन दो सकेतो के लिए '२' और '०' का ही प्रयोग क्यो किया है ? सकेत '२' तो आसानी से समझाया जा सकता है, क्योकि अर्धीकरण की क्रिया से दो का—अर्थात् दो से भाग करने का आभास होता है। दूसरे सकेत 'शून्य' का प्रयोग कदाचित् इसलिए किया गया था, कि उस समय शून्य का प्रयोग 'अभाव' या 'घटाने' के अर्थ मे होता था। इन दोनो अर्थो मे शून्य का प्रयोग भारतीय ग्रथो मे प्राचीन काल से मिलता है। पिंगल का उल्लेख दर्शित करता है कि हिन्दू लोगो के पास २०० ई० पू० के पूर्व शून्य का सांकेतिक चिह्न था, उसका स्वरूप चाहे जो रहा हो।

**वक्षाली हस्तलिपि** (३०० ई० ) मे भी, गणना करने मे, शून्य का प्रयोग किया है। उदाहरणत, पत्र ५६ (ब) मे लिखा है—

" | ८८० / ८८ | ९६४ / १६८ |, गुणा करने पर मिला | ८४८३२० / १४११२ |,

अलग रखे हुए ४० का वर्ग है | १६०० |, इसको अश म घटाने पर मिला

| ८४६७२० / १८११२ |, अपवर्तन करने पर मिला | ६० |।"

[1] उदाहरणार्थ, पृथूदकस्वामी ने 'व' (=वर्ग) और 'गु' (=गुण) का प्रयोग किया है, तथा महावीर ने ६ और ० अको का प्रयोग किया है। आगे देखिए।

उक्त ग्रथ मे इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। इन उदारणो को देखने पर विदित होगा कि यदि उनमे से अक निकाल लिये जायँ तो प्रयुक्त वाक्य निरर्थक हो जायँगे। अतएव ग्रथ की मूल रचना के समय ही उन अको का समावेश किया गया होगा। इसमे सदेह नही कि वे बाद के प्रक्षेप नही हैं। शून्य का स्पष्ट उल्लेख तथा उसका गणना मे प्रयोग दिखाने के लिए हम उसी ग्रथ से निम्नलिखित अश उद्धृत करते हैं

"

| ० | २ | ३ | ४ | दृश्य २००[1] |
|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | १ | १ |

'शून्य मे १ जोड कर[2]' (सूत्र का प्रयोग करने पर) प्राप्त हुआ १।२।३।४। "[3]

पच-सिद्धान्तिका (ल० ५५० ई०) मे कई स्थानो पर शून्य का उल्लेख है। एक उदाहरण यह है

"मेष राशि (के सात ज्याखडो) मे (प्रत्येक मे) ७ और अन्तिम (आठवें ज्याखड) मे ६, वृषराशि (के आठ ज्याखडो) मे क्रमश ६, ६, ६, ५, ५, ५, ४ और ४, और मिथुन राशि (के आठ ज्याखडो) मे क्रमश ३, ३, २, २, १, १, ०, ० कलाएँ होती हैं।"[4]

यहाँ पर शून्य को उसी प्रकार का अक कल्पित किया गया है जैसे १, २, ३, इत्यादि होते हैं। यदि इसका कोई अन्य अर्थ किया जायगा तो सगत न होगा। उक्त ग्रथ मे छद-रचना की सुविधा के लिए सख्याओ को प्रकट करने मे शून्य को जोडने और घटाने का भी प्रयोग किया गया है। उदाहरणत

[1] हस्तलिपि में शून्यो के स्थान में बिन्दुओ ( ) का प्रयोग किया गया है। आधुनिक प्रणाली के अनुसार इसको इस प्रकार लिखेंगे—

य+२य+३य+४य=२००।

[2] मूल में 'युत' शब्द का प्रयोग किया गया है।

[3] बक्षाली हस्तलिपि, पत्र २२ (ब)।

[4] पच-सिद्धान्तिका, ४, १२।

"२, ३, ९, १२, ९, ३ और ० को (अलग अलग) ३६ में जोड़ने पर दिन प्राप्त होते हैं।"[1]

इस प्रकार के उदाहरण, सब के सब, पंचसिद्धान्तिका उन्हीं भागों में मिलते हैं जो पुलिश-सिद्धान्त से संबन्ध रखते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि ऐसे वाक्य पुलिश-सिद्धान्त के ही उद्धरण हैं। अतएव बिना किसी कठिनाई के यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आचार्य पुलिश शून्य के अंकात्मक मान से अवगत थे। यह तो बतलाया ही जा चुका है कि उन्होंने शब्दांकों का प्रयोग किया था।

वराहमिहिर के समकालीन लेखक जिनभद्र गणि (५२९-५८९) की रचनाओं में शून्य के अंकात्मक प्रयोग के निर्णयात्मक प्रमाण मिलते हैं। शून्य-गर्भित बड़ी-बड़ी संख्याओं का वर्णन करने में, लाघव की दृष्टि से, उन्होंने प्रायः यह बतलाया कि उन संख्याओं में शून्य की पुनरावृत्ति कितने बार हुई है। उदाहरणतः, उन्होंने २,२,४,४०,००,००,००० को इस प्रकार लिखा है—'बाईस, चवालीस आठ शून्य'[2], और ३२,००,४०,००,००,००० को इस प्रकार—'बत्तीस दो शून्य चार आठ शून्य'[3]। इसी ग्रंथ में अन्य स्थान पर

$$२४१९६०\frac{४०७१५०}{४८३९२०} = २४१९६०\ \frac{४०७१५}{४८३९२}$$

का वर्णन इस प्रकार है—

"दो लाख इकतालीस हजार नौ सौ साठ, शून्य से अपवर्तन करने पर अंश है चार-शून्य-सात-एक-पाँच और हर है चार-आठ-तीन-नौ-दो।"[4]

यह ध्यान देने की बात है कि 'अपवर्तन' शब्द का तात्पर्य वही है जो आजकल की अंकगणित में 'किसी भिन्न को, उसके अंश और हर को उभयनिष्ठ गुणनखंड

[1] पंच-सिद्धान्तिका, अध्याय १८, श्लोक ३५, इस प्रकार के अन्य उदाहरण निम्नलिखित स्थलों पर भी हैं ३ १७, ४ ७, ४ ८, ४ ११, १८ ४४, १८ ४५, १८ ४८, १८ ५१।

[2] बृहत्-क्षेत्र-समास, मलयगिरि कृत टीका के साथ संपादित, बंबई, १ ६६।

[3] पूर्वोक्त ग्रंथ, १ ७१। अन्य उदाहरण इन स्थलों पर हैं—१ ६०, ६७, १०२, १०८, ११३, ११६, इत्यादि।

[4] पूर्वोक्त ग्रंथ, १ ८३।

मे भाग देकर सक्षिप्त रूप मे परिणत करने का' होता है। अतएव जिनभद्र गणि का शून्य, अभाव-प्रदर्शक भावना मात्र नही है वल्कि निस्सदेह उससे तात्पर्य गणित के अक-सूचक चिह्न से है।

जिनभद्र गणि के समकालीन सिद्धसेन गणि ने उमास्वातिकृत तत्त्वार्थधिगम-सूत्र पर अपनी टीका मे, गणित करने मे, शून्य का प्रयोग किया है जो कि निम्न-लिखित दो आदर्श उदाहरणो मे प्रमाणित होता है[1]

" शेष है ३५,३४,४०,००,००,०००। इसका वर्ग निकालते है आठ शून्यो के आधे ४ शून्य होते हे, शेष का वर्गमूल है १८८, अतएव इष्ट वर्गमूल हुआ १८,८०,००००।"

"चार शून्यो को हटाने पर, उसके वाद लब्धि मिलती है १,००,०००।"

भास्कर प्रथम (६२९ ई०) ने अपनी महाभास्करीय मे शून्य को घटाने की चर्चा की है। अपने आर्यभटीय-भाष्य मे उन्होने स्थान-मान युक्त अको का, शून्य के साथ, प्रयोग किया है। जैसा वताया जा चुका ह, उन्होने अक स्थानो को सूचित करने के लिए भी शून्यो का प्रयोग किया है।

अकगणित और वीजगणित के सभी उपलब्ध भारतीय ग्रन्थो मे एक प्रकरण शून्य के परिकर्मो से सम्बन्ध रखता है, जिसमे मूल और घात की क्रियाएँ सम्मिलित रहती है। इन परिकर्मो का विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा, परन्तु यहाँ पर इस वात की ओर सकेत किया जा सकता है कि शून्य के गाणितिक परिकर्म तभी सभव हो सकते है जब साकेतिक चिह्न के द्वारा प्रदर्शित अक के रूप मे शून्य का अस्तित्व पहले से ही स्वीकार कर लिया जाय।[2]

[1] उमास्वाति-कृत तत्वार्याधिगम सूत्र, स्वयकृत टीका युत, सिद्धसेन-गणि की व्याख्या सहित, एच आर कापडीया द्वारा सपादित, वम्बई १९२६, २ ११ (व्याख्या)।

[2] स्मिथ और कार्पिस्की (हिन्दू अरेविक न्यूमरल्स, पृ० ५३) लिखते है "महावीराचार्य के गणित-सार-सग्रह में, जवकि यह ग्रथ स्थान-मानवाले अको का प्रयोग नहीं करता, इसी प्रकार का शून्य-सम्बन्धी विवेचन है।" इस कथन का पहला भाग अशुद्ध है, क्योकि महावीर ने हमेशा स्थान-मान वाले अको का प्रयोग किया है। वस्तुत गणित-सार-सग्रह में स्थान-मान से रहित अको का चिह्न भी नहीं मिलता। जे० ट्राप्के का कथन (गैशिस्टे डेर एलीमेटरी मैथे-

शून्य का आकार

प्राचीन ग्रंथो के उपर्युक्त उद्धरण निर्णयात्मक रूप मे प्रमाणित करते है कि ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो से शून्य की गणना अको मे की जाती थी और उसे सूचित करने का एक साकेतिक चिह्न भी था। इस साकेतिक चिह्न का आकार क्या था, सन्देहात्मक है। वक्षाली हस्तलिपि मे शून्य के लिए विंदु का प्रयोग किया गया है, परन्तु इस ग्रथ की उपलब्ध प्रति आठवी या नवी शताब्दी की है, अतएव यह नही कहा जा सकता कि उक्त आकार वही है जो बक्षाली हस्तलिपि की मूल रचना के समय (अर्थात् तीसरी शताब्दी या पहले) प्रयोग किया जाता था। शून्य-बिदुओ का उल्लेख महाकवि सुबन्धु की रचनाओ मे भी मिलता है। उनके वासवदत्ता नामक काव्य मे एक स्थान पर तारो की उपमा शून्य बिन्दुओ से दी गयी है—

"निमीलित होते हुए नीलकमल के व्याज से रचे हुए अजलिपुट के द्वारा, उदय होते हुए चन्द्रमा को नमस्कार सा करते हुए अन्धकार का आगमन हुआ। उसी समय गगन-रूपी महासर मे कुमुदो के समूह का सन्देह उत्पन्न करनेवाले तारे प्रकाशित हुए, मानो विश्व की गणना करते हुए ब्रह्मा ने शशि-रूपी खडिया के टुकडे से आकाशरूपी काले अजिन पर, ससार के अत्यन्त शून्य होने के कारण, शून्य-बिन्दुओ को लिख दिया हो।"[1]

शून्यसूचक बिन्दु का त्याग कर दिये जाने के बहुत समय बाद भी जब शून्य के अर्थ मे सामान्य रूप से लघुवृत्त का प्रयोग होता था, शब्दाको मे तथा बाद के साहित्य मे[2] शून्य के लिए बिन्दु शब्द का प्रयोग किया जाता था। अतएव

मेटिक, जिल्द २, १९२६, पृ० ५६) कि १७वी शताब्दी के पूर्व शून्य की गणना अको में नहीं की जाती थी, अशुद्ध है। देखिए बी० दत्त, "अर्ली लिटरेरी एवीडेन्स ऑव दि यूस ऑव दी जीरो इन इडिया", अमेरिकन मैथेमेटिकल मथली, ३८, १९३१, पृ० ५६६।

[1] सुबन्धुकृत वासवदत्ता, एफ० हॉल द्वारा सपादित (कलकत्ता, १८५९, पृ० १८२) और लुई एच० ग्रे द्वारा अंगरेजी में अनुवादित (न्यूयार्क, १९१३, पृ० ९९ आदि)।

[2] उदाहरणत, हिन्दी के कवि बिहारी लिखते है

कहत सबै बेंदी दिये, आँक दस गुनो होत।<br>
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढत उदोत॥ (बिहारी सतसई, दोहा ४१)

सुबन्धु की वासवदत्ता से उद्धृत किया हुआ उपर्युक्त अवतरण इस बात का निश्चित प्रमाण नही माना जा सकता कि सुबन्धु के समय मे शून्य के सांकेतिक चिह्न के रूप मे बिन्दु का प्रयोग होता था। केवल इतना अनुमान किया जा सकता है कि सुबन्धु के पूर्व किसी समय बिन्दु का प्रयोग होता था। हम यहाँ तक कहने के लिए बढ सकते है कि अधिक सम्भव है कि शून्य का सबसे प्राचीन सांकेतिक चिह्न बिन्दु था, न कि लघुवृत्त।

शून्य के प्रयोग का प्राचीनतम पुरालेख-सम्बन्धी प्रमाण आठवी शताब्दी के जयवर्द्धन द्वितीय के रघोली पट्टो[1] मे मिलता है। भोजदेव[2] के शासनकाल मे लिखे गये ग्वालियर के अन्तर्लेखो मे भी शून्य का प्रयोग किया गया है। इन अन्तर्लेखो मे शून्य का आकार लघुवृत्त है। यही आकार बहुत प्राचीन समय मे, कदाचित् आठवी शताब्दी के पूर्व से, सामान्य रूप से प्रचलित है।

**शून्य-सूचक चिह्न के अन्य प्रयोग**

भारतवर्ष मे आधुनिक पाठशाला के विद्यार्थी को इकाई, दहाई, सैकडा इत्यादि अक स्थानो के नाम सिखाये जाते है और उन स्थानो को पक्तिवद्ध शून्यो के द्वारा सूचित करने को कहा जाता है। ये शून्य निम्न प्रकार से लिखे जाते है

. ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०

शिक्षक दाहिनी ओर के प्रथम शून्य को इगित करता है और कहता है है 'इकाई', तब उसके बादवाले शून्य को इगित करता है और कहता है 'दहाई', इत्यादि। विद्यार्थी शिक्षक की बात को दुहराता है। अक-स्थानो को शून्यो द्वारा सूचित करने की यह पद्धति भास्कर प्रथम के समय तक देखने को मिलती है। भास्कर प्रथम ने, जैसा बताया जा चुका है, अपने आर्यभटीय भाष्य मे स्थानो को शून्यो द्वारा प्रदर्शित करने के विषय मे लिखा है

"स्थानो का लेखन ( करने पर मिलता है)

० ० ० ० ० ० ० ० ० ०"

अकगणित (पाटीगणित) के सब ग्रथो मे अज्ञात राशि को प्रदर्शित करने के लिए शून्य का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार का प्रयोग तीसरी शताब्दी

[1]पीछे दी हुई सूची में न० ४।

[2]पीछे दी हुई सूची में न० १९ और २०।

तक देखने को मिलता है। वक्षाली हस्तलिपि मे अज्ञात राशि के स्थान मे शून्य का स्थापन किया गया है। बीजगणित मे तो अज्ञात राशि के लिए सदैव मे अक्षरो का प्रयोग हुआ है। प्रतीत होता है कि अकगणित मे अज्ञात राशि के स्थान मे शून्य का प्रयोग वस्तुत राशि के अभाव को सूचित करने के लिए किया जाता था, बीजगणित के बीज 'य' ($x$) की भाँति वह शून्य साकेतिक चिह्न न था, क्योकि उसका प्रयोग केवल प्रश्न के न्यास मे ही किया गया है, बीजगणित के सकेतो की भाँति गणना मे नही। शून्य का यह प्रयोग अधिकतर पचराशिक, सप्तराशिक आदि अनुपात के प्रश्नो मे ही मिलता है। अरबवालो ने भी हिन्दुओ के प्रभाव के कारण ऐसे ही प्रश्नो मे अज्ञातराशि को सूचित करने के लिए शून्य का प्रयोग किया है। अज्ञातराशि को सूचित करने के लिए शून्य का इसी प्रकार का प्रयोग यूरोप मे गॉटफ्रिड वोलक के कुछ व्याख्यानो की लेटिन हस्तलिपि मे मिला है। ये व्याख्यान एर्फुर्ट विश्वविद्यालय मे १४६७-६८ मे दिये गये थे।[1]

भास्कर प्रथम ने ऋण चिह्न को सूचित करने के लिए भी शून्य का प्रयोग किया है। उदाहरणत, उन्होंने अपने **आर्यभटीय-भाष्य** मे $\frac{1}{2} - \frac{1}{6}$ को निम्न प्रकार से लिखा है

| १ | १ |
|---|---|
| २ | ६॰ |

[2]

बाद के लेखको ने अक के ऊपर बिन्दु रखकर अक के ऋणत्व को सूचित किया है। ऐसी परिस्थिति मे 'लघुवृत्त' या 'बिन्दु' धनत्व के अभाव को प्रदर्शित करता है। बिन्दु का ऐसा ही प्रयोग अरब और यूरोप मे भी देखने को मिलता है, जिसका कारण स्पष्टतया हिन्दू प्रभाव है।[3]

[1] स्मिथ और कार्पिस्की, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० ५३-५४।

[2] आर्यभटीय-भाष्य, अध्याय २, श्लोक २७ (11)।

[3] कला (या विकला) का अभाव प्रदर्शन करने के लिए, अलबटानी द्वारा अरबी ऋण चिह्न 'ला' का प्रयोग, जिसका उल्लेख नलिनो (फेरहाण्ड-लुगेन डेस ५ काग्रेसेज डेर ओरियटलिस्टेन, बर्लिन, १८८२, जिल्द २, पृ० २७१) ने किया है, भारतीय ऋण-चिह्न, बिन्दु के ही सदृश है।

## १३ भारतीय साहित्य मे स्थान-मान सकेत

### जैन आगम ग्रथ

'अकस्थान' शब्द के प्रयोग का प्राचीनतम साहित्यिक प्रमाण अनुयोग-द्वार-सूत्र' नामक जैन ग्रथ म मिलता है, जो ईसवी सन् के पहले का लिखा हुआ है। इस ग्रथ मे ससार के समस्त जीवो की सख्या इस प्रकार बतलायी गयी है "(लोक के जीवो की सख्या) कोटि-कोटि आदि सज्ञाओ की सहायता मे अको मे व्यक्त करने पर २९ स्थान लेती है।" 'अकस्थानो' का उल्लेख तत्सामयिक ग्रथ व्यवहार सूत्र[2] मे भी आया है।

### पुराण

पुराणो मे भी, जो अशत धार्मिक और अशत ऐतिहासिक ग्रथ है, अक-स्थान और स्थान-मान सिद्धान्त के उल्लेख आये है। इन ग्रथो के निर्माण का उद्देश्य जनसाधारण मे धार्मिक और ऐतिहासिक बातो के ज्ञान का प्रसार करना था। इन ग्रथो मे स्थान-मान सिद्धान्त के उल्लेख मिलने से सिद्ध होता है कि उनके लेखकगण इस पद्धति को महत्त्व देना चाहते थे।

वायु-पुराण[3] मे अकस्थानो का निम्न उल्लेख है

"ये गणित के अठारह स्थान है। महर्षियो का कथन है कि इस प्रकार स्थानो की सख्या सैकडो हो सकती है।"

अग्नि-पुराण[4] मे स्थान-मान सिद्धान्त का निम्न वर्णन है

"इकाई मे आरम्भ करके, प्रत्येक स्थान का मान पूर्वगामी स्थान मे दस गुना होता है।"

[1] इस अवतरण का विस्तारपूर्वक उद्धरण किया जा चुका है। पीछे देखिए, पृ० १२।

[2] अध्याय १, देखिए बी० दत्त, सियमिया जुलाई, १९३१, पृ० ८।

[3] अध्याय १०१, श्लोक१०२ आदि।

एवमष्टादशैतानि स्थानानि गणनाविधौ॥ १०२ (11)
शतानीति विजानीयात्सज्ञितानि महर्षिभि। १०३ (1)

[4] अग्निपुराण में स्थान-मान सिद्धान्त के अनुसार शब्दाको का भी प्रयोग मिलता है। देखिए पीछे, पृ० ५४।

विष्णु-पुराण[1] मे भी इसी प्रकार का स्थान-मान सिद्धान्त का वर्णन है

"हे द्विज! एक स्थान मे दूसरे स्थान का मान क्रमश दस गुना होता है। अठारहवाँ स्थान परार्ध कहलाता है।"

ऊपर उद्धृत किये गये तीन पुराण सबसे प्राचीन पुराण है। अग्नि और वायु पुराण, अपने आधुनिक रूप मे, चौथी शताब्दी के आस-पास के है। वायु पुराण तो कुछ विद्वानो के मत मे प्रथम या दूसरी शताब्दी का है।

**दार्शनिक ग्रथ**

शान्तरक्षित-कृत तत्त्वसग्रह के टीकाकार कमलशील (छठी शताब्दी) ने वसुमित्र के निम्नलिखित दृष्टान्त को उद्धृत किया है[2]

"जिस प्रकार मिट्टी की गोली इकाई के स्थान मे होने पर १ को सूचित करती है (दहाई के स्थान मे होने पर १० को), सैकडे के स्थान मे होने पर १०० को, और हजार के स्थान मे होने पर १००० को, उसी प्रकार ।"

वसुमित्र का समय १०० ईसवी माना जाता है। अतएव उपर्युक्त उद्धरण निश्चित रूप से सिद्ध करता है कि स्थान-मान का सिद्धान्त पहली शताब्दी ईसवी के अत तक इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि दार्शनिक ग्रथो मे दृष्टान्त के रूप से इसका प्रयोग किया जाने लगा था।

उपर्युक्त दृष्टान्त बाद के दार्शनिक ग्रथो मे भी मिलता है। उदाहरणार्थ, पतजलि-कृत योगसूत्र के व्यास-भाष्य[3] मे यह निम्नलिखित शब्दो मे दिया गया है

"जिस प्रकार एक ही रेखा सैकडे के स्थान मे होने पर सौ, दहाई के स्थान मे होने पर दस, और इकाई के स्थान मे होने पर एक कहलाती है।"[4]

यही दृष्टान्त शकराचार्य के शारीरक-भाष्य मे इस प्रकार है

[1] अश ६, अध्याय ३, श्लोक ४।

[2] तत्त्वसग्रह (श्लो० १७८७-१७९०) पर कमलशील की टीका देखिए।

[3] पाद ३, सूत्र १३ का भाष्य।

[4] जे० एच० वुड्स ने (दि योग सिस्टेम ऑव पतजलि, पृ० २१६ फुट-नोट) कुछ अवतरणो के सम्बन्ध में, जिसमें यह भी सम्मिलित है, लिखा है "मिस्टर जी० आर० के की सम्मति के विपरीत, निम्नलिखित अवतरण प्रदर्शित करते है कि दशमलव स्थान-मान सिद्धान्त छठी शताब्दी ई० में ज्ञात था।" ऊपर दिये हुए अवतरण को सर पी० सी० रे ने भी उद्धृत किया है। देखिए हिस्ट्री ऑव हिन्दू केमिस्ट्री, जिल्द २, पृ० ११७।

"जैसे, यद्यपि रेखा एक ही है तो भी स्थान-भेद के कारण उसका मान एक, दस, हजार इत्यादि हो सकता है।"[1]

उपर्युक्त दो ग्रथो मे से पहला अधिक से अधिक छठी शताब्दी का है और दूसरा अधिक से अधिक आठवी शताब्दी का है।

साहित्यिक ग्रथ

सुबन्धु कृत वासवदत्ता के अवतरण का जिसमे तारो की उपमा शून्य-विन्दुओ से दी गयी है, उल्लेख किया जा चुका है। बाद के साहित्य मे शून्य के प्रयोग के अनेक उदाहरण मिलते है, परन्तु उन्हे यहाँ देने की आवश्यकता नही है।

## १४ स्थान-मान सिद्धान्त के आविष्कार का समय[2]

अब हम स्थान-मान सकेत के प्रारभिक प्रयोग से सबध रखनेवाले विभिन्न प्रमाणो का साराश दे रहे है

(१) स्थान-मान पद्धति के प्रयोग का पुरालेख सम्बन्धी प्राचीनतम प्रमाण छठी शताब्दी के अन्त का है।

(२) शब्दाको के साथ स्थान-मान सिद्धान्त का प्राचीनतम प्रयोग तीसरी या चौथी शताब्दी का है। ऐसा प्रयोग अग्नि-पुराण, बक्षाली हस्तलिपि और पुलिश-सिद्धान्त मे मिलता है।

(३) गणित के ग्रथ मे स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग सर्वप्रथम बक्षाली-हस्तलिपि मे हुआ है जिसमे सख्याओ को लिखने मे इसका प्रयोग किया गया है। स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग आर्यभटीय मे तथा बाद के सब ग्रथो मे हुआ है।

(४) साहित्य मे स्थान-मान सिद्धान्त का उल्लेख १०० ई० पू० मे हुआ है। तीन उल्लेख तो पुराणो मे मिलते है जो तीसरी से चौथी शताब्दी तक के लिखे हुए है, और तीन उल्लेख दार्शनिक ग्रथो मे मिलते है जिनमे से एक लगभग १०० ई० का है।

(५) शून्य के सांकेतिक चिह्न का प्रयोग पिगल के छन्द सूत्र मे मिलता है जो २०० ई० पू० के लगभग लिखा गया था।

[1] ३ ३ १७, देखिए बी० दत्त, अमेरिकन मथेमेटिकल मथली, ३३, १९२६, पृ० २२०-१।

[2] उदाहरणत, श्रीहर्षकृत नैषधचरित (लगभग १२वीं शताब्दी) में शून्य-विन्दु का प्रयोग आया है। देखिए बी० दत्त, पूर्वोक्त, पृ० ४४९-४५४।

उपर्युक्त तथ्यो से स्पष्ट है कि स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग साहित्यिक और गणितेतर ग्रथो मे, गणित के ग्रथो की अपेक्षा, बहुत पहले हुआ। ठीक यही आशा भी की जा सकती है। क्योकि इस सिद्धान्त के आविष्कार होने के बाद कुछ समय तक इसका प्रयोग केवल बडी-बडी सख्याएँ लिखने मे किया गया होगा। उसके बाद बहुत समय, ऐसी सख्याओ द्वारा गणित की क्रियाएँ करने के नियमो को बनाने मे लगा होगा। सिद्धान्त के पूर्णतया विकसित हो जाने पर ही गणित के ग्रथो मे इसके प्रयोग की आशा की जा सकती है। अतएव गणितेतर ग्रथो मे मिलनेवाले इस सिद्धान्त के प्रयोग के प्रमाण, गणित के ग्रथो की अपेक्षा प्राचीन होने ही चाहिए।

गणित के ग्रथ इतने टिकाऊ नही होते जितने धार्मिक या साहित्यिक ग्रथ। ज्यो ही इस विषय का उत्तमतर ग्रथ क्षेत्र मे आ जाता है, पुराने ग्रथ का अध्ययन रोक दिया जाता है। वस्तुत गणित के नये ग्रथ का निर्माण इसी उद्देश्य से होता है कि वह पुराने ग्रथ की खराबियो को दूर करके उसका स्थान ग्रहण कर ले। सम्भव है कि आर्यभट प्रथम के पहले ऐसे ग्रथ रहे हो जिनमे स्थान-मान सिद्धान्त का प्रयोग हुआ हो, परन्तु उनका त्याग कर दिया गया और अब वे अप्राप्य है। १६०० वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद अब ऐसे ग्रथो की प्रतियो को प्राप्त करने की आशा करना व्यर्थ है।

यूरोप और अरब मे ऐसे ग्रथो की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करना आज भी सभव है जिनमें प्राचीन अको का प्रयोग या प्राचीन और नवीन अको का मिला हुआ प्रयोग किया गया था, परन्तु भारतवर्ष मे ऐसे ग्रथो का लेशमात्र भी चिह्न नही मिलता।

यूरोप मे स्थान-मान सिद्धान्त के प्रयोग के निश्चित प्रमाण सर्वप्रथम दसवी और ग्यारहवी शताब्दियो मे मिलते है, परन्तु दशमलव अको का सामान्य प्रयोग वहाँ सत्रहवी शताब्दी मे ही हुआ। भारतवर्ष मे तो आर्यभट प्रथम (४९९ ई०), भास्कर प्रथम (६२९ ई०), ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०), और लल्ल, (८वी शताब्दी) सभी ने दशमलव अको का ही प्रयोग किया है। उनके ग्रथो मे किसी अन्य सकेतो का चिह्न भी नही मिलता। यूरोप के दृष्टान्त को लेकर, केवल हिन्दू-गणितीय ग्रथो द्वारा प्रस्तुत प्रमाणो के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि स्थान-मान सिद्धान्त भारतवर्ष में लगभग २०० ई० पू० मे ज्ञात रहा होगा।

क्योकि साहित्यिक प्रमाण भी हमें उसी काल मे ले जाते है, इसलिए हम निश्चय-पूर्वक कह सकते है कि स्थान-मान सिद्धान्त २०० ई० पू० के लगभग भारतवर्ष में ज्ञात था। अतएव यदि हम दशमलव स्थान-मान सकेत और शून्य के कोई

आविष्कार होने का समय २०० ई०पू० निर्धारित करे, तो अधिक अशुद्धि न होगी। सम्भव है कि आगे चलकर कोई ऐसा प्रमाण मिल जाय कि हमे बाध्य होकर इससे पूर्व का समय निर्धारित करना पडे।

## १५ अरब मे हिन्दू अक[1]

अरब लोगो का क्रमबद्ध इतिहास ६२२ ई० से आरम्भ होता है जब मोहम्मद साहब मक्का से मदीना को गये थे। इस्लाम धर्म के फैलते ही अरब प्रायद्वीप की बिखरी हुई जातियाँ एक हो गयी और परिणामस्वरूप एक शक्तिशाली राष्ट्र का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ ही काल मे इन सगठित अरबो ने उत्तरी अफ्रीका और स्पेन प्रायद्वीप के समस्त भाग पर विजय प्राप्त की और पूर्व की ओर भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा पर्यन्त अपने राज्य का विस्तार किया। अनायास ही उन्होने बजारो की तरह घूमना बन्द कर दिया, और उच्चकोटि की सभ्यता को ग्रहण किया।

अरब साहित्य और विज्ञान की नीव ७५० ई० और ८५० ई० के बीच मे डाली गयी। यह कार्य विशेषत विदेशी सामग्री और विदेशी लोगो की सहायता से हुआ। उनके वर्णिक साहित्य का अधिकाश फारसी से अनुवाद के रूप मे आया। रणविद्या, शस्त्रास्त्र-विद्या, पशुचिकित्सा-शास्त्र, श्येनपालन विद्या, तथा विविध प्रकार के शकुन-ग्रथ एव आयुर्वेद-शास्त्र की कुछ पुस्तके सस्कृत और फारसी से अनूदित हुई। यथार्थ विज्ञान उन लोगो को यूनान और भारतवर्ष से मिले।

मोहम्मद साहब के समय से पूर्व अरबवालो के पास सतोषजनक अक सकेत न थे। परन्तु विजित देशो के आर्थिक शासन से सबध रखनेवाली अनेक गणनाओ ने विकसित अक सकेत के प्रयोग को अनिवार्य बना दिया। कुछ स्थानो मे अधिक सभ्य विजित जातियो के अको का भी कुछ काल तक प्रयोग हुआ। इस प्रकार सीरिया मे यूनानी अक सकेत और मिस्र मे काप्टिक अक सकेत का प्रयोग यथावत् स्थापित रक्खा गया। खलीफा वालिद (६९९ ई०) की राजकीय घोषणा जिसके अनुसार राजकाज मे यूनानी भाषा का प्रयोग करना मना किया गया था, परन्तु अरबी भाषा मे अपने अक न होने के कारण अको को सूचित करने के लिए यूनानी

[1] विस्तृत विवरण के लिए कजोरी-कृत हिस्ट्री ऑव मैथेमेटिक्स और स्मिथ और कार्पिस्की कृत हिन्दू-अरेबिक न्यूमरल्स देखिए।

अक्षरो के प्रयोग का विशेष रूप मे अपवाद किया गया था इसी प्रारम्भिक काल से सबध रखती है।[1] धीरे-धीरे करके अक्षर सकेत मे अरबी अक्षरो ने यूनानी अक्षरो का स्थान ग्रहण कर लिया और इस प्रकार अबजद-सकेत का प्रादुर्भाव हुआ। कदाचित् अरब लोगो को भारतीय अको का ज्ञान सेवोख्त-जैसे विद्वानो की रचनाओ से एव प्राचीन गोबार सकेतो का ज्ञान अन्य सूत्रो से हुआ हो। परन्तु चूंकि उनके सवाददाता सब आवश्यक सूचना नही दे सके (उदाहरणत, अकगणित मे परिकर्मो की क्रिया उन्हे विदित न थी), अतएव उन अको के गणित मे प्रयोग होते होते लगभग एक शताब्दी और बीत गई।

खलीफा अलमसूर (७५३-७७४ ई०) के राज्य-काल के समय मे सिन्ध से बगदाद को कुछ दूत गये थे, जिनमे कुछ विद्वान् भी थे जो अपने साथ गणित के कई ग्रथ, जिनमे ब्रह्मगुप्त रचित ब्राह्म स्फुट सिद्धान्त एव खण्डखाद्यक भी सम्मिलित थे, ले गये थे। इन विद्वानो की सहायता से अलफजारी ने और कदाचित् याकूब इब्न तारिक ने भी, उनका अरबी मे अनवाद किया था। दोनो ही ग्रथो का खूब प्रयोग किया गया और अरबी गणित पर उनका विशेष प्रभाव पडा। यही अवसर था जब अरब लोग पहले पहल वैज्ञानिक प्रणाली की ज्योतिष के सम्पर्क मे आये। इस विषय के सभी विद्वान लेखको का विचार है कि ठीक इसी समय हिन्दू अको का अरब मे निश्चित रूप से प्रवेश हुआ। मालूम होता है कि प्रारम्भ मे अरब लोगो ने गोबार अंको को प्रयुक्त किया जिनको उन्होने पहले से ही अलेक्जेन्ड्रिया के निवासियो से प्राप्त किया था (परन्तु इनमे शून्य सम्मिलित न था) अथवा उन सीरिया निवासियो से प्राप्त किया था जो बगदाद के खलीफा लोको के यहा अनुवाद का काम करते थे। अलख्वारिज्मी (८२५ ई०) ने, जो कि अकगणित के प्रारम्भिक अरब लेखको मे से था, गोबार अको का ही प्रयोग किया।[2] परन्तु अधिक समय व्यतीत होने के पहले ही अरब लोगो ने यह अनुभव किया कि गोबार अक दाहिनी ओर से बायी ओर को लिखी जानेवाली उनकी लिपि के अनुकूल नही है। प्रतीत होता है कि उसके बाद अधिक अनुकूल पडनेवाले अको का प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया।

[1] देखिए थियोफेन्स (७५८-८१८ ई० ) कृत क्रोनोग्रेफिया, स्क्रिप्टोरेम हिस्टॉरिये बैजन्टाइने, जिल्द ३९, बोन्नाने, १८३९, पृ० ५७५, स्मिथ कार्पिस्को द्वारा पूर्वोक्त ग्रथ में पृ० ६४ की टिप्पणी में उद्धृत।

[2] स्मिथ और कार्पिस्की, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० ६८।

परन्तु चूंकि लोग गोबार अकों के प्रयोग मे अभ्यस्त हो चुके थे, अतएव उनका परित्याग करना उन्हे अखरता था। परिणाम-स्वरूप गोबार अको और नवीन अको के बीच एक झगडा-सा[1] उठ खडा हुआ जो लगभग दो (१०वीं और ११वी) शताब्दियो तक चलता रहा, जब तक कि अधिक अनुकूल पडनेवाले अक सामान्य प्रयोग मे न आ गये। फिर भी पश्चिम अरब के निवासियो ने सशोधित अको के प्रयोग को स्वीकार नही किया और गोबार अको का ही प्रयोग यथावत् स्थापित रखा, और इस प्रकार वे गोबार अको को जाग्रत यूरोप मे प्रवेश कराने मे समर्थ हो सके। आधुनिक अरबी अको तथा आधुनिक यूरोपीय अको के आकार-भेद का कारण अब तक उपस्थित किये गये अन्य सिद्धान्तो की अपेक्षा उपर्युक्त स्पष्टीकरण स अधिक अच्छी तरह समझ मे आता है।

वेपके महोदय द्वारा प्रस्तुत किये गये सिद्धान्त मे उपर्युक्त आकार वैषम्य को समझाने के लिए निम्नलिखित कल्पनाएँ की गयी है

(१) ईसा की दूसरी शताब्दी मे, जब शून्य का आविष्कार नही हुआ था, भारतीय अक अलेक्जेन्ड्रिया को लाये गये थे और वहाँ से उनका रोम और पश्चिमी अफ्रीका मे प्रसार हुआ था।

(२) आठवी शताब्दी मे जब शून्य के आविष्कार के कारण भारतीय अक सकेत अत्यत परिष्कृत और उन्नत हो चुके थे बगदाद के अरबो ने उन्हे हिन्दुओ से प्राप्त किया था।

(३) पश्चिमी अरब के निवासियो ने शून्य को पूर्वी अरबो से प्राप्त किया, परन्तु उन्होने अपने प्राचीन अको के प्रयोग को ज्यो का त्यो स्थापित रखा, जिसका

[1] एक लिखित प्रमाण, जिसे वेपके ने उद्धृत किया है, बडे महत्त्व का है, क्योकि उससे इस बात का प्रदर्शन होता है कि ९७० ई० में गोबार अको के साथ-साथ अरबी अको का प्रयोग होता था। उक्त ग्रथ का नाम है 'अक सम्बन्धी मनोहर और सुन्दर प्रश्न', और इसे अहमद इब्न मोहम्मद इब्न अब्दल्जलील अबू सईद, अल् सिज्जी (९५१-१०२४ ई०), ने नजीफ इब्न यम्न, अल् कास (मृत्यु ९९० ई०), नामक हकीम उल्मुल्ला की किसी पुस्तक से नकल किया था। स्प्रेन्जर ने भी इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है (जाइट्श्रिफ्ट डेर ड्वायत्शेनमॉर्गेनलेण्डिशेन गेसेल्शाफ्ट जिल्द ४५, पृ० ३६७)। अली इब्न अहमद अलनसावी (लगभग १०२५ ई०) लिखता है कि उसके समय में अको के आकार का निर्णय नहीं हुआ था (स्मिथ और कार्पिन्स्की, पूर्वोक्त ग्रथ पृ० ९८)।

यदि कोई अन्य कारण न भी रहा हो तो भी कम से कम अपने राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वियो से वैषम्य स्थापित रखना अवश्य था।

(४) पश्चिमी अरब के निवासियो को यह स्मरण था कि प्राचीन अक भारतीय उत्पत्ति के है, अतएव वे लोग उन अको को गोवार अक कहते थे।

(५) आठवी शताब्दी के अनन्तर भारतवर्ष मे अको के आकारो मे पुन परिवर्तन हुए और उन्होने अत्यन परिष्कृत आधुनिक देवनागरी अको का आकार ग्रहण किया।

इसमे सन्देह नही कि ईसा की दूसरी शताब्दी मे भारतीय अक अलेक्जेन्ड्रिया निवासियो को ज्ञात थे। परन्तु यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किन कारणो से अलेक्जेन्ड्रियावालो ने इन अको का प्रयोग किया और उनका ज्ञान बनाये रखा? जहाँ तक हम लोगो को विदित है, उन लोगो के पास अपने निजी अक भी थे। तब क्या कारण है कि उन्होंने विदेशी अको को अधिक पसन्द किया? इन प्रश्नो का सतोषजनक उत्तर तब तक नही दिया जा सकता जब तक हम यह कल्पना न कर ले कि ९ अक सकेतो के साथ-साथ स्थान-मान सिद्धान्त और कदाचित् शून्य भी अलेक्जेन्ड्रियावालो को बताया गया था। परन्तु इस निगूढ सिद्धान्त का स्वागत करने को वे तैयार न थे, अतएव उन्होने केवल नौ अको को ग्रहण किया और एवैकस पर उनका प्रयोग किया। वहाँ से वे अक रोम और पश्चिमी अफ्रीका को पहुँचाये गये थे।

दूसरी कल्पना कि अरबवालो ने ८वी शताब्दी के भारतीय अको को ग्रहण किया तथ्यो से अनमोदित नही होती। अरबी की प्राचीन हस्तलिपियो मे मिलनेवाले अक, आठवी शताब्दी के भारतीय अको की अपेक्षा, गोवार अकों, या आधुनिक अरबी अको मे अधिक समता रखते है। वस्तुत इस बात पर विश्वास करने के अनेक कारण है कि भारतीयो के सीधे सम्पर्क मे आने से बहुत पहले ही अरबवाले स्थान-मान एव शून्य से रहित गोवार अको का जानते थे, तथा शून्य को उन्होने केवल ७५० ई० के लगभग ही ग्रहण किया।

## १६. यूरोप मे हिन्दू अक

**ब्वैथिअस समस्या**

यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि हिन्दू अको का प्रवेश यूरोप मे कब और कैसे हुआ। ये अक प्रथम बार ब्वैथिअस (ल० ५०० ई०) की क्षेत्रगणित की एक हस्तलिपि मे मिलते है, जो कि ईसा की १०वी शताब्दी की बतायी जाती

है। इस पुस्तक की अनेक अन्य हस्तलिपियाँ उपलब्ध है और सभी मे अक विद्यमान है। कुछ हस्तलिपियो मे तो शून्य भी मिलता है। यदि ये हस्तलिपियाँ (अथवा इन हस्तलिपियो के वे भाग जिनमे अक विद्यमान है) प्रामाणिक मानी जायँ, तो यह स्वीकार करना पडेगा कि हिन्दू अक ईसा की पाचवी शताब्दी के प्राय अन्तिम काल तक यूरोप मे प्रविष्ट हो चुके थे। कुछ विद्वानो के मत से ब्वेथिअस की क्षेत्रगणित के अक-सम्बन्धी अवतरण जाली है। इन लोगो के तर्क का साराश निम्नलिखित है

(१) प्रस्तुत अवतरण ग्रथ के मुख्य विषय, अर्थात् क्षेत्रगणित से, कोई सम्बन्ध नही रखते। ब्वेथिअस की अकगणित मे हिन्दू अको की चर्चा नही है। किसी अन्य स्थान पर उसने उनका प्रयोग नही किया है। न समकालीन कैपेला (लगभग ४७५ ई०) ने अथवा ब्वेथिअस के ग्रथो से परिचित किसी अन्य मध्यकालीन लेखक ने उन अको का उल्लेख किया है।

(२) हिन्दू अक-सकेत की सिद्धि भारतवर्ष मे पाँचवी शताब्दी के बहुत समय बाद हुई थी, अतएव यदि हिन्दू अक व्यापारिक मार्गो द्वारा यूरोप को ले भी जाये गये हो, तो भी वे पश्चिम के अको से श्रेष्ठ होने का दावा नही कर सकते थे, और इसलिए वे ब्वेथिअस का ध्यान आकर्षित नही कर सकते थे।

उपर्युक्त तर्को मे से दूसरा वास्तविकता के विरुद्ध है, क्योकि अब यह सिद्ध हो चुका है कि हिन्दू अक-सकेत, जिसमे शून्य सम्मिलित था, ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे उन्नत अवस्था को पहुँच चुका था तथा भारतवर्ष मे प्रचलित था। अतएव वे अक ईसा की पाँचवी शताब्दी अथवा पहले ही व्यापारिक मार्गो द्वारा सरलतापूर्वक यूरोप पहुँच सकते थे। पहला तर्क बिल्कुल काल्पनिक है और ब्वेथिअस की क्षेत्रगणित मे मिलनेवाले अको की प्रामाणिकता पर सदेह उत्पन्न करता है। इससे कुछ भी सिद्ध नही होता। जब उक्त ग्रथ की सभी प्राप्त हस्तलिपियो मे अक उपलब्ध है, तब उन अको के अस्तित्व की प्रामाणिकता पर सदेह प्रकट करना अनुचित प्रतीत होता है। क्षेत्रगणित मे उन अको की उपस्थिति को हम यह कहकर समझा सकते है कि उन अको के विषय मे ब्वेथिअस का ज्ञान अल्पतम था। उसने उन अको को किसी न किसी स्रोत से प्राप्त किया था—चाहे पैथागोरस के नवीन सम्प्रदायवादियो से, अथवा किसी व्यापारी से अथवा किसी पर्यटनशील विद्वान से—परन्तु वह उनका प्रयोग नही जानता था। सम्भव है कि स्थान-मान सिद्धान्त और शून्य की सहायता से वह छोटी-छोटी सख्याओ को लिख लेता हो, परन्तु

यह निश्चित है कि वह उनके द्वारा साधारण गाणितिक क्रियाएँ करने की विधि नही जानता था। अतएव वह अकगणित मे अथवा किसी अन्य ग्रथ मे उनका प्रयोग न कर सका। सेवोस्त' (ल० ६५० ई०) के ग्रथो से स्पष्ट है कि भारतीय अको का पश्चिम मे निश्चित रूप से प्रचार होने मे बहुत पहले ही उनकी ख्याति वहाँ पहुँच चुकी थी। अतएव ब्वेथिअस के द्वारा पश्चिम मे हिन्दू अको के प्रचार का प्रश्न तब तक अनिर्णीत ही समझा जाना चाहिए जब तक आगे के अनुसधान इसका कोई निश्चित निर्णय न कर दे।

**निश्चित प्रमाण**

सर्वप्रथम लेखक जिसने ईसाई यूरोप मे गोबार अको का वैज्ञानिक ढग मे वर्णन किया था गर्बर्ट नाम का एक फ्रान्सीसी भिक्षु था। गर्बर्ट प्रसिद्ध विद्वान था। इटली मे वह कई उच्च पदो पर रह चुका था और पोप के पद के लिए उसका निर्वाचन हुआ था (९९९ ई०)। तीन वर्ष तक वह स्पेन मे भी रहा था। निश्चित रूप मे नही कहा जा सकता कि उसको गोबार अक कहाँ से प्राप्त हुए। कुछ लोगो का कथन है कि उसे वे अक स्पेन मे मूरो द्वारा मिले, अन्य लोग कहते है कि किसी अन्य स्रोत, सम्भवत किसी व्यापारी, से मिले। गर्बर्ट को ये अक सुन्दर नही प्रतीत हुए (और उचित ही, क्योकि उनमे न तो शून्य ही था और न स्थान-मान), और उसने 'रेगुला डे एबैको कम्प्यूटी ऐण्ड दि लिबेलस' नामक ग्रथो मे रोमन अको का ही प्रयोग किया है। इस प्रकार हम देखते है कि गर्बर्ट के समय तक स्थान-मान सिद्धान्त यूरोप को विदित नही हुआ था।

७११ ई० के 'जरेज डे ला फ्राटेरा' के युद्ध मे गॉथ लोगो की शक्ति पूर्णरूप मे छिन्न-भिन्न हो गयी। ठीक उसी समय मूर लोग स्पेन के स्वामी हो गये और ५०० वर्ष पर्यन्त उसके स्वामी बने रहे। आधुनिक अक-सकेत के सिद्धान्त का ज्ञान, जो कि ८वी शताब्दी के मध्य तक निश्चय ही बगदाद पहुँच चुका था अवश्यमेव स्पेन पहुँचा होगा और वहाँ से उसका प्रवेश यूरोप के अन्य देशो मे हुआ होगा। कारडोवा, ग्रेनाडा और टोलेडो मे मूरो द्वारा स्थापित स्कूल सम्पूर्ण मध्यकाल म विद्या के सुप्रसिद्ध केन्द्र थे जो यूरोप के सभी भागो के विद्यार्थियो को आकर्षित करते थे। इस प्रकार यद्यपि यूरोप अपने अको के लिए मूरो का प्रत्यक्ष ऋणी न भी रहा हो, तो भी उस सुप्रसिद्ध सिद्धान्त के लिए मूरो का वह अवश्य ऋणी है जिसके कारण साधारण गोबार अको की महिमा रोमन अको मे बढ गयी।

आधुनिक अंक-संकेत सिद्धान्त के कतिपय उदाहरण बारहवीं शताब्दी में यूरोप में मिलते हैं, परन्तु प्रतीत होता है कि तेरहवीं शताब्दी से पहले उनके प्रचार का कोई निश्चित प्रयत्न नहीं किया गया। सम्भवतः पीसा नगर के निवासी ल्योनार्डो फिबोनकी ही ऐसा व्यक्ति था जो इन अंकों को फैलाने में अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ। ल्योनार्डो का पिता बारबरी के समुद्र तट पर स्थित बुगिया (आधुनिक बौगी) नाम के नगर में अढ़तिया था। यह नगर उस समय के श्रेष्ठतम बन्दरगाहों में से था, तथा बारहवीं शताब्दी के अन्त में अफ्रीका के व्यापार का केन्द्र था। यहीं पर किसी मूर गुरु से ल्योनार्डो की शिक्षा हुई थी। युवक होने पर उसने रूमसागर के देशों का पर्यटन किया, उसने सीरिया, ग्रीस, इटली और प्रोवेन्स आदि देशों को देखा, वहाँ के विद्वानों से तथा व्यापारियों से मुलाकात की, और उस समय के व्यापारी केन्द्रों में प्रचलित अंक-पद्धतियों का ज्ञान प्राप्त किया। उसका कहना है कि वे सभी पद्धतियाँ हिन्दुओं की पद्धति के सामने दोषपूर्ण थीं। पीसा नगर को लौटने पर १२०२ ई० में उसने 'लिबर एबैकी' नाम की पुस्तक लिखी, जिसको १२२८ ई० में उसने दूसरी बार लिखा।[1] इस पुस्तक में उसने हिन्दू अंकों को समझाया है और व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाली साधारण गणनाओं में उनका प्रयोग किया है। प्रारम्भ में ल्योनार्डो की पुस्तक का जनसाधारण में स्वागत नहीं हुआ, कारण यह था कि वह व्यापारियों के लिए अत्यन्त ऊँचे दर्जे की थी और विश्वविद्यालयों के लिए अत्यन्त साधारण थी। तो भी कालान्तर में लोगों ने उसका महत्त्व अनुभव किया और तब हम देखते हैं कि उसे तत्कालीन गणितीय साहित्य में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ।

अन्य लेखकों में, जिनके ग्रंथों से भारतीय अंकों के प्रसार में सहायता मिली, अलेक्जेन्डर डे विला डी (ल० १२४० ई०) और जान आव हैलीफाक्स (ल० १२५० ई०) के नाम उल्लेखनीय हैं।

एबैकस के प्रयोग करनेवालों ने जो शून्य का प्रयोग नहीं करते थे, हिन्दू अंकों के प्रसार का डट कर विरोध किया। परन्तु ल्योनार्डो सरीखे व्यक्तियों की लेखनी ने उन लोगों के मुँह बन्द करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की यद्यपि इसमें दो तीन शताब्दियाँ लग गयीं। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक

[1] स्मिथ और कार्पिन्स्की, पूर्वोक्त, पृ० १३१।

पश्चिमी यूरोप के सभी राष्ट्रो ने सामान्य रूप मे इन अको को ग्रहण कर लिया था, परन्तु उनका सामान्य प्रयोग केवल सत्रहवी शताब्दी मे ही हुआ।

## १७ हिन्दू अको के विविध उल्लेख

**सीरिया के उल्लेख**

सेवेरस सेवोस्त (६६२ ई०) के ग्रथ से उद्धृत निम्नलिखित अवतरण[1] से प्रदर्शित होता है कि सातवी शताब्दी के आरम्भ मे ही हिन्दू अको की ख्याति यूफ्रेटिज नदी के तट तक पहुँच चुकी थी। सेवोस्त सीरिया देश का एक विद्वान था जो पेट्रियार्क अथेनेसियस गमेनली (मृत्यु ६३१ ई०) और उसके उत्तराधिकारी जॉन के समय मे, यूफ्रेटिज नदी के तट पर केनेशर के बनवाये मठ मे रहता था।[2] प्रतीत होता है कि सेवोस्त कुछ यूनानी विद्वानो की धृष्टता से आहत था, जो सीरिया-वालो को नीची दृष्टि से देखते थे, और सीरियावालो की रक्षा करने मे वह उन्हे ज्योतिष के आविष्कार का गौरव प्रदान करता है। वह कहता है कि यूनानी लोग बैबिलन नगर के निवासी खाल्दियन लोगो के शिष्य है और वे खाल्दियन लोग ही सीरिया वाले है जिन्हे यूनानी लोग बदनाम करते है। इसी सिलसिले मे दृष्टान्त के रूप मे वह हिन्दुओ का उल्लेख करता है और कहता है

"मै हिन्दुओ के शास्त्रो के सभी विवेचन को छोडता हूँ—उन हिन्दुओ के जो सीरियन लोगो से भिन्न है—न उनकी विज्ञान विषयक विलक्षण गवेषणाओ के विषय मे कहूँगा जो यूनानी लोगो की गवेषणाओ की अपेक्षा अधिक कौशलपूर्ण है, और न उनकी वर्णनातीत गणना के विषय मे ही। मै केवल यह कहना चाहता हूँ कि यह गणना नौ चिह्नो की सहायता से की जाती है। यदि वे लोग, जो केवल यूनानी भाषा बोलने के कारण ही यह समझते है कि वे विद्या की सीमा पर पहुच चुके है, इन बातो को जाने तो उन्हे विश्वास हो जायगा कि उन लोगो के अतिरिक्त भी ऐसे लोग है जो कुछ जानते है।"

[1]इस अवतरण की ओर सर्वप्रथम एफ० नऊ ने ध्यान आकर्षित किया था। देखिए जर्नल एशियाटिक, २, १९१०, पृ० २२५-२२७, जे० जिन्सबुर्ग, बुलेटिन अमेरिकन मैथमेटिकल सोसायटी २३,१९१७, पृ० ३६८।

[2]डब्ल्यू० राइट, शार्ट हिस्ट्री ऑव सिरिअक लिटरेचर, पृ० १३७-१३९।

यह उद्धरण स्पष्टतया प्रदर्शित करता है कि सेवोख्त हिन्दू अको से केवल परिचित ही नही था बल्कि उसे उनके विषय मे पूर्ण ज्ञान भी था और सम्भवत रब्बी बेन एजरा की भाँति वह शून्य से भी अवगत था, यद्यपि उसने भी केवल नौ अको की ही चर्चा की है। वस्तुत आज भी हम केवल नौ अको की ही चर्चा करते है, शून्य की गणना अको मे नही करते।

अरब के उल्लेख

इब्न वहशिया (८५५ ई०) 'प्राचीन वर्णमाला एव हिएरोग्लिफिक लिपि का स्पष्टीकरण इत्यादि' नामक अपनी पुस्तक मे इब्न वहशिया ने तीन प्रकार के भारतीय अको का एव तीन प्रकार की भारतीय वर्णमाला के स्वरूपो का वर्णन किया है।[1] प्रतीत होता है कि ये स्वरूप उस समय अरब मे भली भाँति ज्ञात थे। पहले प्रकार के स्वरूपो मे उस समय अरब लोगो मे प्रचलित प्रथा के अनुरूप शून्य के स्थान मे बिन्दु का प्रयोग किया गया है,[2] दूसरे प्रकार के स्वरूपो मे बिन्दु को मोटा कर दिया गया है, और तीसरे प्रकार के स्वरूपो मे अकसूचक चिह्नो मे एक चक्र जोड दिया गया है।[3] कार्पिस्की का विचार है कि चक्रो का प्रयोग इब्न वहशिया का आविष्कार है।

जाहिज (मृत्यु ८६९ ई०)

अरब के दार्शनिक जाहिज ने अको को 'हिन्द के स्वरूप' कहा है और लिखा है कि इन अको की सहायता से बडी-बडी सख्याएं सरलता से लिखी जा सकती है। वह प्रश्न करता है "हिन्द के स्वरूपो का आविष्कारक कौन है? सिद हिन्द (ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त) और अरकान्द (खण्डखाद्यक) के रचयिता एव शून्य की सहायता से गणना करने की विधियो के प्रणेता कौन है?"[4]

[1]कार्पिस्की, बिब्लियोथेका मैथेमेटिका, १३, १९१२-१३, पृ० ९७-८।

[2]भारतवर्ष में मिलने वाली कुछ हस्तलिपियो मे भी इसी प्रकार के बिन्दुओ का प्रयोग मिलता है। देखिए आर० एल० मित्र, नोटिसेज आंव सस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स, ५, पृ० २९९, मैनुस्क्रिप्ट न० १९७६, पट्ट न० १, इडिआ आफिस कटलॉग, मैनुस्क्रिप्ट न० १९४६, १९४७ और १८७१।

[3]यह स्वरूप उन भारतीय सख्याको के सदृश है जो उस समय लिखे जाते थे जब स्थान-मान का प्रयोग नही होता था। पीछे देखिए।

[4]जाहिज के ग्रन्थ का फ्रासीसी अनुवाद उपलब्ध है (काएरो, [illegible] १९२४)। देखिए कैरा डे वो, सियन्शिया २१, १९२१, पृ० २७३-२८२।

**अबुल हसन अल-मसऊदी (९४३ ई०)**

अरब का इतिहासकार अल-मसऊदी लिखता है "सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के आदेशानुसार ऋषियो के एक परिषद् ने नौ अको तथा ज्योतिष आदि शास्त्रो का निर्माण किया।"[1] अल-मसऊदी की साक्षी महत्त्व की है क्योकि भारतवर्ष के विषय मे उसे प्रत्यक्ष ज्ञान था। ९१० ई० मे वह मुल्तान मे था और ९१६ ई० मे खम्भात मे।

**अबू सहल इब्न तमीम (९५० ई०)**

अफ्रीका के उत्तर मे ट्युनिस नगर के पास स्थित कैरवॉ ग्राम का निवासी इब्न तमीम 'सिफर यसीरह' नामक ग्रथ के भाष्य मे लिखता है "हिन्दुओ ने, इकाइयो को सूचित करने के लिए, नौ चिह्नो का आविष्कार किया है। हिन्दू गणित पर लिखी हुई 'हिसाब अल-गोबार' नामक पुस्तक मे मैने उनके विषय मे पर्याप्त कथन किया है।"[2]

**अल-नदीम (९८७ ई०)**

लगभग २०० भारतीय वर्णमालाओ की 'फिहरिस्त' नामक सूची मे अल-नदीम ने हिन्दू अको को भी सम्मिलित किया है। इन अको को उसने 'हिन्दिसा' कहा है।[3]

**अल-बेरूनी (१०३० ई०)**

अल-बेरूनी भारतवर्ष मे लगभग तेरह वर्ष रहा और अपना समय हिन्दू कला एव विज्ञान के अध्ययन मे व्यतीत किया। उसे यूनानी विज्ञान और साहित्य का अद्भुत ज्ञान था, अतएव उसे अपने समकालीन एव पूर्वकालीन लेखको की अपेक्षा अको की उत्पत्ति के विषय मे साधिकार लिखने की अधिक योग्यता थी। (इस विषय पर) उसने दो पुस्तके लिखी है जो 'किताब अल अरकाम' (अर्थात् 'अक विद्या की पुस्तक') और 'तस्किरा की अल-हिसाब व'अल मद्द बि अल-अरकाम अल-सिन्द व'अल हिन्द' (अर्थात् 'अकगणित तथा सिन्ध और हिन्द की

[1]रेनॉद, मेम्वार सू लो, पेरिस, १८९४, पृ० ३००। इससे प्रतीत होता है कि, वहुत अधिक समय व्यतीत हो जाने के कारण, दशवी शताब्दी में हिन्दू लोग अको के आविष्कार अथवा आविष्कारको को भूल चुके थे।

[2]रेनॉद, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० ३९९।

[3]किताब अल-फिहरिस्त, जी० हफ्लूगेल द्वारा सपादित, २, पृ० १८-१९।

अकगणना पद्धति का विवेचन') नामो से प्रसिद्ध है। 'तारीख अल हिन्द' (अर्थात् 'भारतवर्ष का इतिहास') नामक पुस्तक मे वह लिखता है 'जिस भाँति भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानो मे वर्णमाला के आकार भिन्न-भिन्न है, ठीक उसी भाँति अको के आकारो मे भी विभिन्नता है। हम लोग जिन अको का प्रयोग करते है, वे हिन्दू अको के सर्वोत्तम आकारो से व्युत्पन्न किये गये है।''[1] दूसरे स्थान पर वह लिखता है "हिन्दू लोग अकगणित मे अको का प्रयोग उसी भाँति करते है जैसे हम लोग करते है। हमने एक पुस्तक लिखी है जिसमे हमने दिखाया है कि हिन्दू लोग इस विषय मे हम लोगो से सम्भवत कितना आगे बढे हुए है।"[2] 'आसार-उल-बाकिया'[3] (अर्थात् 'अतीत के अवशेष', रचनाकाल १००० ई०) नामक पुस्तक मे अल बेरुनी ने आधुनिक अको को "अल-अरकाम अल-हिन्द" अर्थात् "हिन्द के अक" कहा है और प्रसगवश यह भी उल्लेख किया है कि ये अक पष्टचश-सिद्धान्त तथा अक्षर सिद्धान्तवाले अको (हुरूफ अल-जुमल) से भिन्न है।

अबिनरेगल (१०४८ ई०)

अली बिन अबिल रेगल अबुल हसन, जो अबिनरेगल के नाम से प्रसिद्ध है, ने लिखा है कि जो गणना नौ अको द्वारा की जाती है उसका आविष्कार करनेवाले हिन्दू दार्शनिक है।[4]

सर्फुद्दीन (११७२ ई०)

मक्का निवासी महमूद बिन काजिद अल-असूनी सर्फुद्दीन ने 'फी अल-हन्दसा व'अल अरकाम अल-हिन्दी' ('क्षेत्रगणित तथा भारतीय अक") नामक पुस्तक की रचना की थी।

[1] भारत, अलबेरुनी-कृत, ई० सी० साचौ-कृत अँगरेजी अनुवाद, लदन, द्वितीय सस्करण, १९१०, जिल्द १, पृ० ७४।

[2] पूर्वोक्त ग्रथ जिल्द १, पृ० १७७।

[3] दि क्रानोलाजी आव एशेन्ट नेशस, साचौ द्वारा सपादित, लदन, १८७९, पृ० ६२ और १३२।

[4] जे० एफ० मोट्यूक्ला, इस्तुआर दे माथेमाटीक जिल्द १, पृ० ३७६। एच सूटर दी माथामाटिकर उण्ट अस्ट्रानोमर डेर अराबेर उण्ट इरे वेर्के, लाइपजिग, १९००, पृ० १०९।

अल-कलसादी (मृत्यु १४८६ ई०)

इब्न अलबन्ना कृत 'तलखीस' के भाष्य म अबुल हसन अली अल-कलसादी कहता है "ये नौ चिह्न, जो गोबार (धूल) के चिह्न कहलाते है, वे चिह्न है जो हमारे स्पेन के प्रान्तो तथा मगरिब एव अफ्रीका के देशो मे बहुधा प्रयोग किये जाते है। इनकी उत्पत्ति परम्परा मे भारतीय राष्ट्र के एक व्यक्ति को आरोपित की गयी है। लोगो का कथन है कि उस व्यक्ति ने कुछ बारीक धल लेकर एक पटरे पर फैला दिया और लोगो को गुणा, भाग तथा अन्य गणित की क्रियाएँ करना सिखाया।"[1]

बेहाउद्दीन (लगभग १६०० ई०)

अको के सम्बन्ध मे बेहाउद्दीन लिखता है "हिन्दू लोगो ने ही वस्तुत नौ प्रचलित अको की सृष्टि की है।"[2]

उपर्युक्त उल्लेखो मे 'हिन्द' शब्द का प्रयोग भारतवर्ष के अर्थ मे और 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग भारतीय के अर्थ मे हुआ है। अरबी और फारसी साहित्य मे भारतवर्ष के अर्थ मे प्राय 'हिन्द' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। प्रारम्भिक लेखो मे कभी-कभी सिन्ध और हिन्द मे भेद किया गया है। उदाहरणत, अल-मसऊदी और अल-बेरुनी ने सिन्ध शब्द का प्रयोग सिन्ध नदी के पश्चिमवाले देशो के अर्थ मे किया है। यह भेद इब्न हौकल के मानचित्र मे जो इलियट और डासन कृत 'भारतवर्ष के इतिहास' मे उद्धृत किया है, भली-भाँति दृष्टिगोचर होता है। कुछ लोगो ने इस भेद की उपेक्षा की है। उदाहरणत, इस्तखरी (९१२ ई०) ने हिन्द शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण भारतवर्ष के अर्थ मे किया है।[3] और फिरदौसी कृत शाहनामा[4] मे सिन्ध शब्द का प्रयोग नदी तथा देश के अर्थ मे तथा हिन्द शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण भारतवर्ष के अर्थ मे किया गया है। आगे चलकर यह भेद पूर्णतया लुप्त हो गया। इब्न सीदेह (मृत्यु १०६६ ई०), फीरोजाबादी (१३२८-१४१३ई०) आदि कोपकारो के अनुसार हिन्द 'एक सुप्रसिद्ध राष्ट्र का

[1] जए, १८६३, पृ० ५६ आदि।

[2] खोलासा अल-हिसाब, ए० मारे द्वारा फ्रासीसी में अनुवादित, न्यू० अनाल्स मैथेमेटिक जिल्द ५, १८६४, पृ० २६६।

[3] इलिअट और डासन कृत भारतवर्ष का इतिहास, भाग २, पृ० ४१२।

[4] ए० जी० वार्नर और ई० वार्नर कृत अँगरेजी अनुवाद, लदन, १९०६।

नाम है तथा एल० जौहरी (१००८ ई०) के अनुसार यह 'एक देश का नाम' है। अरब साहित्य मे भारतवर्ष के अर्थ मे हिन्द शब्द के प्रयोग के अनेक उदाहरण मिल सकते है।

केरा दे वो[1] ने सुझाव दिया है कि सभवत हिन्द शब्द का अर्थ भारतवर्ष नही है, बल्कि इसकी व्युत्पत्ति वस्तुत 'एन्द' (अथवा 'हेन्द') शब्द से हुई है जिसका अर्थ है "माप", "अकगणित" या "क्षेत्रगणित।" और इससे उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'हिन्द के चिह्न' का अर्थ 'अकगणित के चिह्न' है न कि 'भारतवर्ष के चिह्न'। हिन्द शब्द से बने हुए विशेषण 'हिन्दी' के सम्बन्ध मे, जिसको कुछ विद्वानो ने अको के सिलसिले म प्रयोग किया है, उसका अनुमान है कि इसका प्रयोग सभवत भ्रमवश 'हिन्दसा' के अर्थ मे हुआ है।

केरा डे वो की, एण्द या हेद शब्द से की गयी, हिन्द शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकार नही की जा सकती। अरबी कोषो मे इसे समर्थन नही मिलता। इसके अतिरिक्त, हिन्द शब्द बहुत प्राचीन है। इसका प्रयोग अवेस्ता[2] मे, पहले के यश्त तथा बाद के वेण्डिडाड दोनो मे, मिलता है। डेरियस हिस्तेस्पस के क्यूनिफार्म अन्तर्लेखो मे भी इसका प्रयोग मिलता है। अरबो की ईरान-विजय के पूर्व के पहलवी लेखो मे भी हिद शब्द के दर्शन होते है। इन सबमे इसका प्रयोग भारतवर्ष के अर्थ मे हुआ है।

हिन्दी शब्द हिद शब्द का विशेषण है और इसका अर्थ है 'भारतीय'। कुछ इने गिने स्थानो पर इसका प्रयोग भ्रमवश हिन्दसा के अर्थ मे किये जाने से यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि ऐसा प्रत्येक स्थान पर हुआ है।

## हिन्दसा आदि शब्द

अधिकारी विद्वानो का कथन है कि हिदसा, हिदसा, हदसा, हिदसी, हन्दसी इत्यादि शब्द हिन्द शब्द के विशेषण है, जिसका अर्थ है भारतीय'। के[3] और

[1] केरा दे वो सिर्यासिया, जिल्द २१, १९१७, पृ० २७३।
[2] यस्त, १० १४१, यस्त, १० १०४ (मिहर यस्त)।
[3] के, जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बगाल जिल्द ३, १९०७, पृ० ४८९, और जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी ऑव बगाल, जिल्द ७, १९११, पृ० ८१० आदि।

केरा डे वो[1] ने इस व्याख्या का विरोध किया है। फीरोजाबादी के शब्दकोष के आधार पर उन लोगो का कथन है कि ये शब्द फारसी के 'अन्दाजह' शब्द से, व्युत्पन्न किये गये है, जिसका अर्थ है "माप।" इसमे सदेह नही कि अरबी भाषा मे हिन्दसी शब्द का अर्थ 'रेखा-गणित सम्बन्धी' है। परन्तु जब इस शब्द का प्रयोग "दोहरी कल्पना के नियम" या "नौ की सहायता से होने वाली उत्पत्ति" के सिलसिले मे अथवा 'अक सकेत' के सिलसिले मे किया जाता है, तब यह मानना पडेगा कि इस शब्द का कोई दूसरा अर्थ भी था। चूंकि हिन्दसी नामक गणितीय नियम, अरब मे उनका प्रयोग होने से पहले, हिन्दू अकगणित मे मिलते है, अतएव हिन्दसी का अर्थ 'भारतीय' भी है। अतएव हिन्दसा, हिन्दसा, अथवा हन्दसा शब्द के दो अर्थ है (१) "क्षेत्रगणित सम्बन्धी" और (२) "भारतीय।" इस शब्द के अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाला विवाद जो कि वेपके[2] ने शान्त कर दिया था पुन उठ खडा हुआ है, क्योकि के तथा केरा डे वोस महोदयो ने दोनो अर्थो की सत्यता को स्वीकार करना अस्वीकार कर दिया है।[3] इस स्थल पर सूचित किया जा सकता है कि चूंकि हिन्दसी शब्द का एक अर्थ 'हिन्दी' का पर्यायवाचक है अतएव आश्चर्य नही कि भ्रमवश कभी कभी लोगो ने, विशेषकर मूल ग्रथ के अनभिज्ञ लेखको ने, एक शब्द का प्रयोग दूसरे के स्थान मे कर दिया हो

**यूरोपीय उल्लेख—सेवाइल का आइसोडोरस**

सेवाइल के आइसोडोरस द्वारा लिखित ओरिजिन्स नामक पुस्तक के प्रथम अध्याय (जो रोमन अको से सम्बन्ध रखता है) के परिशिष्ट मे गोबार अको के आकारवाले नौ अक, जिनमे शून्य सम्मिलित नही है दिये गये है। इसी ग्रन्थ की दूसरी स्पेनिश प्रतिलिपि (९९२ ई०) मे भी उसी स्थान पर ये अक मिलते

[1] पूर्वोक्त पत्रिका।

[2] वेपके, इडियन ऐक्वेटरी, जिल्द १, १८६३, पृ० २७ आदि। निम्न भी देखिए—इन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम में 'हन्दसा' शब्द पर सूटर का लेख, रोजेन कृत अलजबरा ऑव मोहम्मद बेन मूसा १८३१, पृ० १९६ आदि।

[3] किसी भी साहित्य में ऐसे शब्द निकालना कठिन होगा जिनके एक से अधिक अर्थ हो। कई अवसरो पर इन अर्थो का आपस में कोई सम्बन्ध नही होता। जब कभी ऐसे शब्द का प्रयोग होता है, तब उसका समुचित अर्थ सदर्भ से निश्चित करना पडता है।

है। लेखक ने निम्नलिखित शब्दों में इन अंकों की उत्पत्ति भारतीय बतलाया है: "ऐसा ही अंकगणित के चिह्नों के विषय में है। यहाँ पर देखने योग्य है कि भारतीयों की बुद्धि अत्यन्त प्रखर है अन्य राष्ट्र अंकगणित, क्षेत्रगणित तथा संस्कारी कलाओं में उनसे हीन हैं। उनके नौ अंकचिह्नों से तो यह स्पष्ट ही है, जिनका प्रयोग करके वे किसी भी बड़ी से बड़ी संख्या को व्यक्त कर सकते हैं। इन अंकों के आकार ये हैं।"[1]

रब्बी बेन एजरा

रब्बी अब्राहम इब्न मीर इब्न एजरा ने "सिफर-ह-मिस्पर" (अंकों की पुस्तक) नामक अपने ग्रंथ में हिन्दू-आकार के अंक दिया है। उसे अंकों की हिन्दू-उत्पत्ति का ज्ञान था, क्योंकि वह लिखता है "इसका यही कारण है कि भारतवर्ष के विद्वानों ने अपने संपूर्ण अंकों को ९ के द्वारा विशेषित किया है एवं ९ शून्यों के लिए आकारों का निर्माण किया है।"[2]

पीसा का ल्योनार्डो

पीसा निवासी ल्योनार्डो अपने ग्रंथ 'लिबर एबैकी' (१२०२ ई०) में प्राय ९ भारतीय अंकों का उल्लेख करता है। अन्य स्थान पर वह लिखता है "जहाँ भारतीयों के नौ अंक-चिह्नों की सहायता से अद्भुत ढंग की शिक्षा देकर (गणित की) की कला का प्रचार किया।"[3] दूसरे स्थान पर, एक विभिन्न विषय के शीर्षक के तौर पर लिखता है "भारतीय नौ अंकचिह्नों का ज्ञान" इत्यादि, "भारतीय नौ अंक-चिह्न हैं ९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ १।"[3]

एलेक्जेन्डर डे विला डाइ

एलेक्जेन्डर डे विला डाई (ल० १२४० ई०) ने 'कार्मेन डे अल्गोरिज्यो' नामक कुछ कविताओं पर एक भाष्य लिखा है। इस भाष्य में वह कहता

[1]स्मिथ और कार्पिस्की (पूर्वोक्त, पृ० १३८) द्वारा उद्धृत लैटिन मूल का अनुवाद।

[2]सिफर-ह-मिस्पर, जानदस डेर त्साल, ऐन हिब्रेइश आरिथमेटिशेस वेर्क डेस आर० अब्राहम इब्न एजरा मोरित्ज सिल्बरबर्ग, फ्रांकफुर्ट आम् माइन १८९५, पृ० २।

[3]लिबर एबैकी, रोम, १८५७, स्मिथ और कार्पिस्की (पूर्वोक्त पृ० १०) द्वारा उद्धृत।

है "यह पुस्तक जनसाधारण के (उच्चारण के) अनुसार अलगोरिम अथवा आगरिम कहलाती है। इसका विषय अंकविद्या है, जिसे अलगोरिम भी कहते हैं। भारतवर्ष में अलगोर नाम का एक राजा था, उसी ने इस अलगोरिम विद्या का आविष्कार किया था। इस विद्या में हम लोग हिन्दुओं के दस अंकचिन्हों का प्रयोग करते हैं।"[1]

**मैक्सिमस प्लानुडेस (ल० १३३० ई०)**

मैक्सीमस प्लानुडेस ने लिखा है कि "९ (अंक) चिह्न भारतीयों से प्राप्त हुए हैं।"[2]

[1]स्मिथ और कार्पिस्की, पूर्वोक्त, पृ० ११।

[2]देखिए वेशके कृत जर्मन अनुवाद, हाले, १८७८, पृ० ३।

## सारिणी १– खरोष्ठी के अंक

| शक, पार्थिअन और कुषान अन्तर्लेख | | | अशोक के अन्तर्लेख | |
|---|---|---|---|---|
| 33 | ४० | / | / | १ |
| 733 | ५० | // | // | २ |
| 333 | ६० | /// | | ३ |
| 7333 | ७० | X | //// | ४ |
| 3333 | ८० | /X | ///// | ५ |
| ?1 | १०० | //X | | ६ |
| ?11 | २०० | ///X | | ७ |
| ?111 | ३०० | XX | | ८ |
| 113?1 | १२२ | 7 | | १० |
| X7 3733?11 | २७४ | 3 | | २० |

सारिणी २ (अ) — सेमिटिक और ब्राह्मी के अंक

| | हिएरोग्लिफिक | फिनिशियन | हिएरेटिक | डेमोटिक | अशोक के अन्तर्लेख | नानाघाट का अन्तर्लेख | कुषानों के अन्तर्लेख | क्षत्रपों और आन्ध्रों के अन्तर्लेख |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | | | | | | | | |
| २ | | | | | | | | |
| ३ | | | | | | | | |
| ४ | | | | | | | | |
| ५ | | | | | | | | |
| ६ | | | | | | | | |
| ७ | | | | | | | | |
| ८ | | | | | | | | |
| ९ | | | | | | | | |
| १० | | | | | | | | |

सारिणी २(ब) – सेमिटिक और ब्राह्मी के अंक

| | हिएरोग्लिफिक | फिनिशियन | हिएरेटिक | डेमोटिक | अशोक के अन्तर्लेख | नानाघाट का अन्तर्लेख | कुषानो के अन्तर्लेख | क्षत्रपो और आन्ध्रो के अन्तर्लेख |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ११ | \|∩ | [illegible] | [illegible] | | | | | |
| १९ | \|\|\| \|\|\|\|\|\|∩ | [illegible] | [illegible] | | | | | |
| २० | ∩∩ | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | [illegible] | [illegible] | [illegible] |
| ३० | ∩∩∩ | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | | [illegible] | |
| ४० | ∩∩∩∩ | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | | [illegible] | |
| ५० | ∩∩∩∩∩ | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | [illegible] | |
| ६० | ∩∩∩ ∩∩∩ | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | | [illegible] | |
| ७० | ∩∩∩ ∩∩∩∩ | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | | [illegible] | [illegible] |
| ८० | ∩∩∩∩ ∩∩∩∩ | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | [illegible] | [illegible] | |
| ९० | ∩∩∩ ∩∩∩ ∩∩∩ | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | | [illegible] | |
| १०० | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | [illegible] | | [illegible] |

सारिणी २(स)– सेमिटिक और ब्राह्मी के लेख

| | हिएरोग्लिफिक् | फिनिशियन | हिएरेटिक | डेमोटिक | अशोक का अन्तर्लेख | नानाघाट के अन्तर्लेख | कुषानो के अन्तर्लेख | क्षत्रपो और आध्रो के अन्तर्लेख |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| २०० | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | | [illegible] |
| ३०० | [illegible] | | [illegible] | [illegible] | | [illegible] | | |
| ४०० | | | [illegible] | [illegible] | | [illegible] | | |
| ५०० | | | [illegible] | [illegible] | | | | [illegible] |
| ६०० | | | | [illegible] | | [illegible] | | |
| १००० | | | [illegible] | [illegible] | | [illegible] | | [illegible] |
| २००० | | | [illegible] | [illegible] | | | | [illegible] |
| ३००० | | | [illegible] | [illegible] | | | | [illegible] |
| ४००० | | | [illegible] | [illegible] | | [illegible] | | [illegible] |

## सारिणी ३ – ब्राह्मी के अंक

| | तीसरी शताब्दी ई० पू० | दूसरी शताब्दी ई० पू० | पहली और दूसरी शताब्दी | दूसरी शताब्दी | दूसरी से चौथी शताब्दी तक | चौथी शताब्दी |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | अशोक के अन्तर्लेख | नानाघाट का अन्तर्लेख | कुशानों के अन्तर्लेख | क्षत्रपों और आंध्रों के अन्तर्लेख | क्षत्रपों के सिक्के | जग्गयपेट के लेख तथा शिवस्कन्दवर्मन के दानपत्र |
| १ | | — | — | — — | — — | [illegible] |
| २ | | = | = | = = | = | [illegible] |
| ३ | | | ≡ ≡ | ≡ | ≡ | [illegible] |
| ४ | + | + + | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] |
| ५ | | | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] |
| ६ | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] |
| ७ | | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] |
| ८ | | | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] |
| ९ | | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | |

सारिणी ४ – ब्राह्मी के अंक

| | चौथी से छठी शताब्दी तक | पाँचवी शताब्दी | पाँचवी से छठी शताब्दी तक | छठवो मे आठवी शताब्दी तक | आठवो से नवी शताब्दी तक |
|---|---|---|---|---|---|
| | गुप्तो, परिव्राजक, और उच्छकल्प के अन्तर्लेख | वाकाटको के दानपट्ट | पल्लव और शालकायनो के दानपट्ट | वलभी के पट्ट | नेपाल के अन्तर्लेख |
| १ | | | | | |
| २ | | | | | |
| ३ | | | | | |
| ४ | | | | | |
| ५ | | | | | |
| ६ | | | | | |
| ७ | | | | | |
| ८ | | | | | |
| ९ | | | | | |

## सारिणी ५ – ब्राह्मी के अंक

| | ३री से ८वीं शताब्दी | २री से १०वीं शताब्दी | ५वीं से ८वीं शताब्दी | हस्तलिपियाँ | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | गगावंशियों के दानपत्र | प्रतिहारों के अन्तर्लेख और दानपत्र | विविध अन्तर्लेख व दानपत्र | बावर द्वारा संकलित हस्तलिपियाँ | नेपाल से प्राप्त हस्तलिपियाँ | जैन हस्तलिपियाँ |
| १ | | | | | | |
| २ | | | | | | |
| ३ | | | | | | |
| ४ | | | | | | |
| ५ | | | | | | |
| ६ | | | | | | |
| ७ | | | | | | |
| ८ | | | | | | |
| ९ | | | | | | |

सारिणी ६ – ब्राह्मी के अंक

| | ३री शताब्दी ई० पू० | २ री शताब्दी | १ ली और २ री शताब्दी | २ री शताब्दी | २री से ४थी शताब्दी | ४थी शताब्दी |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | अशोक के अन्तर्लेख | नानाघाट का अन्तर्लेख | कुषानो के अन्तर्लेख | क्षत्रपो और आध्रो के अन्तर्लेख | क्षत्रपो के सिक्के | जग्गयपेट के लेख और पल्लवों के दानपटट |
| १० | | | | | | |
| १० | | | | | | |
| २० | | | | | | |
| ३० | | | | | | |
| ४० | | | | | | |
| ५० | | | | | | |
| ६० | | | | | | |
| ७० | | | | | | |
| ८० | | | | | | |
| ९० | | | | | | |

सारिणी ७ – ब्राह्मी के अंक

| | ४थी से ६ठी शताब्दी | ५वी शताब्दी | ६ठी से ८वी शताब्दी | ६ठी शताब्दी | ८वी से ९वी शताब्दी | ७वी से ८वी (?) शताब्दी |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | गुप्त परिव्राजक आदि के अन्तर्लेख | वाकाटकों के दानपट्ट | वलभी के दानपट्ट | शालंकायन वंशियों के दानपट्ट | नेपाल के अन्तर्लेख | गंगावंशियों के दानपट्ट |
| १० | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] |
| २० | | | [illegible] | | | [illegible] |
| ३० | [illegible] | | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] |
| ४० | [illegible] | | [illegible] | | [illegible] | |
| ५० | | | [illegible] | | [illegible] | [illegible] |
| ६० | | | [illegible] | | [illegible] | |
| ७० | [illegible] | | [illegible] | | | |
| ८० | [illegible] | | [illegible] | | | |
| ९० | [illegible] | | [illegible] | | [illegible] | [illegible] |
| १०० | [illegible] | | [illegible] | | | |

सारिणी ८ — ब्राह्मी के अंक

| | ९वीं से १०वीं शताब्दी | ५वीं से ८वीं शताब्दी | हस्तलिपियाँ | | |
|---|---|---|---|---|---|
| | प्रतिहारों के दानपट्ट | विविध दानपत्र और अन्तर्लेख | बावर द्वारा संकलित हस्तलिपियाँ | नेपाल से प्राप्त बौद्ध हस्तलिपियाँ | जैन हस्तलिपियाँ |
| १० | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] |
| २० | | [illegible] | [illegible] | [illegible] | [illegible] |
| ३० | | | [illegible] | [illegible] | [illegible] |
| ४० | | [illegible] | | [illegible] | [illegible] |
| ५० | [illegible] | [illegible] | | [illegible] | [illegible] |
| ६० | | [illegible] | | [illegible] | [illegible] |
| ७० | | [illegible] | | [illegible] | [illegible] |
| ८० | [illegible] | [illegible] | | [illegible] | [illegible] |
| ९० | | [illegible] | | [illegible] | [illegible] |

सारिणी ६ – ब्राह्मी के अंक

| | ३री शताब्दी ई० पू० | २री शताब्दी ई० पू० | १ली और २री शताब्दी | २री से ४थी शताब्दी | ४थी से ७वी शताब्दी | ६ठी से ८वी शताब्दी |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | अशोक के अभिलेख | नानाघाट का अभिलेख | नासिक के अभिलेख | क्षत्रपों के सिक्के | गुप्तवंशियों तथा अन्य लोगों के अभिलेख | वलभी राजाओं के दानपट्ट |
| १०० | | | | | | |
| २०० | | | | | | |
| ३०० | | | | | | |
| ४०० | | | | | | |
| ५०० | | | | | | |
| ६०० | | | | | | |
| ७०० | | | | | | |
| ८०० | | | | | | |

सारिणी १० – ब्राह्मी के अंक

| | ८वी से ९वी शताब्दी | ७वी से ८वी शताब्दी | ९वी से १०वी शताब्दी | ५वी से आठवी शताब्दी | हस्तलिपियाँ | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | नैपाल के अन्तर्लेख | गगावशियो के अन्तर्लेख | प्रतिहारो के दानपट्ट | विविध अन्तर्लेख | बौद्ध हस्तलिपियाँ | जैन हस्तलिपियाँ |
| १०० | | | | | | |
| २०० | | | | | | |
| ३०० | | | | | | |
| ४०० | | | | | | |
| ५०० | | | | | | |
| ६०० | | | | | | |
| ७०० | | | | | | |
| ८०० | | | | | | |
| ९०० | | | | | | |

सारिणी ११ – ब्राह्मी के अंक

| | २री शताब्दी ई० पू० — नानाघाट का अभिलेख | १ली और २री शताब्दी — नासिक के अभिलेख | ५वीं शताब्दी — वाकाटकों के दानपत्र | ब्राह्मी के मिश्र अंक | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १००० | [illegible] | [illegible] | [illegible] | १५ | [illegible] | १२६ | [illegible] | १००१ | [illegible] |
| २००० | | [illegible] | | २८ | [illegible] | २८६ | [illegible] | १००२ | [illegible] |
| ३००० | | [illegible] | | ३३ | [illegible] | ३०१ | [illegible] | ११०१ | [illegible] |
| ४००० | [illegible] | [illegible] | | ४५ | [illegible] | ४२८ | [illegible] | १७०० | [illegible] |
| ६००० | [illegible] | | | ५२ | [illegible] | ५३८ | [illegible] | ६००१ | [illegible] |
| ८००० | | [illegible] | [illegible] | ६२ | [illegible] | ६७६ | [illegible] | १०००१ | [illegible] |
| १०००० | [illegible] | | | ७६ | [illegible] | ७०३ | [illegible] | ११००० | [illegible] |
| २०००० | [illegible] | | | ८१ | [illegible] | ८२२ | [illegible] | २४४०० | [illegible] |
| ७०००० | | [illegible] | | ९३ | [illegible] | ९४५ | [illegible] | | |

सारिणी १२ — आधुनिक हिन्दू अंको के प्रारभिक आकार

| | ५९४ ई० | ७५३ ई० | ७९३ ई० | ८१५ ई० | ८३७ ई० | ८६७ ई० | ८७० ई० | ८७६ ई० | ९१७ ई० | ९२५ ई० |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | गुर्जरो के दानपट्ट | दन्तिदुर्ग के दानपट्ट | शकरगण के दानपट्ट | नागभट के अन्तर्लेख | बाउक के अन्तर्लेख | दन्तिवर्मन के दानपट्ट | भोजदेव के अन्तर्लेख | भोजदेव के अन्तर्लेख | महीपाल के अन्तर्लेख | पृष्कर के अन्तर्लेख |
| १ | | | १ | | | | १ | १ | | |
| २ | | | | २ | | | २ | | | २ |
| ३ | ३ | | | | | | ३ | ३ | | |
| ४ | ४ | | | | ४ | | ४ | | ४ | |
| ५ | | ५ | ५ | | ५ | | ५ ५ | ५ | ५ | |
| ६ | ६ | ६ | | | | | ६ | | | |
| ७ | | ७ | ७ | ७ | | ७ | ७ ७ | ७ | ७ ७ | |
| ८ | | | | ८ | | ८ | ८ ८ | ८ | | ८ |
| ९ | | | | | ९ | ९ | ९ | ९ | ९ | ९ |
| ० | | | | | | | ० | ० | ० | |

सारिणी १३ – आधुनिक हिन्दू अंकों के आदिम आकार

| | [illegible] ई० | [illegible] ई० | ११वीं शताब्दी | १०४२ ई० | १०५० ई० | १११४ ई० | ११६० ई० | हस्तलिपियाँ | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | महाराज के दानपट्ट | अपराजित के दानपट्ट | भोजकृत कूर्मशतक | कर्ण के दानपट्ट | त्रिलोचनपाल के दानपट्ट | जाजल्लदेव के दानपट्ट | अजमेर के अन्तर्लेख | बक्षाली हस्तलिपि | बौद्ध हस्त-लिपियाँ | जैन हस्त लिपियाँ |
| १ | १ १ | १ | १ | | १ १ १ | १ १ | १ | १ १ | १ | १ |
| २ | | २ | २ | | २ २ | २ | २ | २ २ | २ | २ |
| ३ | ३ | | ३ | ३ | ३ ३ | ३ | ३ | ३ ३ | ३ | ३ |
| ४ | ४ | ४ | ४ | | ४ ४ | ४ ४ | ४ | ४ | ४ | ४ |
| ५ | ५ | | ५ | | ५ ५ | ५ ५ | ५ | ५ | ५ | ५ |
| ६ | | ६ | ६ | | ६ ६ | ६ ६ | ६ | ६ | ६ | ६ |
| ७ | | | ७ | ७ | ७ | ७ ७ | ७ | ७ | ७ ७ | ७ |
| ८ | | | ८ | | ८ ८ ८ | ८ ८ | ८ | ८ | ८ | ८ |
| ९ | | ९ | ९ | ९ ९ | ९ ९ | ९ | ९ | ९ | ९ | ९ |
| ० | ० | ० | ० | | ० | | ० | ० | ० | ० |

सारिणी १४ – नागरी अंको की उत्पत्ति

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | – | ¬ | [illegible] | [illegible] | 7 | १ | | १ |
| २ | = | = | २ | २ | २ | | | २ |
| ३ | ≡ | ≡ | ≡ | ≡ | ३ | | | ३ |
| ४ | + | ﾃ | ५ | [illegible] | ४ | ४ | | ४ |
| ५ | h | ᖘ | ५ | | | | | ५ |
| ६ | ϵ | ε | | | | | | ६ |
| ७ | 7 | 7 | 9 | | | | | ७ |
| ८ | ﾌ | 9 | 5 | S | ८ | | | ८ |
| ९ | ? | २ | ३ | ? | ९ | ९ | ९ | ९ |

## सारिणी १५ – आधुनिक भारतीय लिपियों के अंकों के आकार

| | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | ० |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नागरी | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | ० |
| शारदा | 𑇑 | 𑇒 | 𑇓 | 𑇔 | 𑇕 | 𑇖 | 𑇗 | 𑇘 | 𑇙 | 𑇐 |
| टाकरी | 𑛁 | 𑛂 | 𑛃 | 𑛄 | 𑛅 | 𑛆 | 𑛇 | 𑛈 | 𑛉 | 𑛀 |
| गुरुमुखी | ੧ | ੨ | ੩ | ੪ | ੫ | ੬ | ੭ | ੮ | ੯ | ੦ |
| कैथी | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | ० |
| बँगला | ১ | ২ | ৩ | ৪ | ৫ | ৬ | ৭ | ৮ | ৯ | ০ |
| मैथिली | 𑓑 | 𑓒 | 𑓓 | 𑓔 | 𑓕 | 𑓖 | 𑓗 | 𑓘 | 𑓙 | 𑓐 |
| उड़िया | ୧ | ୨ | ୩ | ୪ | ୫ | ୬ | ୭ | ୮ | ୯ | ୦ |
| गजराती | ૧ | ૨ | ૩ | ૪ | ૫ | ૬ | ૭ | ૮ | ૯ | ૦ |
| मराठी | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | ० |
| तेलगु | ౧ | ౨ | ౩ | ౪ | ౫ | ౬ | ౭ | ౮ | ౯ | ౦ |
| कन्नड़ | ೧ | ೨ | ೩ | ೪ | ೫ | ೬ | ೭ | ೮ | ೯ | ೦ |
| मलयालम | ൧ | ൨ | ൩ | ൪ | ൫ | ൬ | ൭ | ൮ | ൯ | ൦ |
| बर्मी | ၁ | ၂ | ၃ | ၄ | ၅ | ၆ | ၇ | ၈ | ၉ | ၀ |
| स्यामी | ๑ | ๒ | ๓ | ๔ | ๕ | ๖ | ๗ | ๘ | ๙ | ๐ |
| तिब्बती | ༡ | ༢ | ༣ | ༤ | ༥ | ༦ | ༧ | ༨ | ༩ | ༠ |

# अध्याय २

# अंकगणित

## १ सामान्य निरीक्षण

### परिभाषा और विस्तार

पाटीगणित पर लिखे हुए हिन्दू ग्रन्थों का अधिकांश अंकगणित से सम्बन्ध रखता है। 'पाटीगणित' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है (१) पाटी, और (२) गणित। अतएव इसका अर्थ है 'वह गणित जिसको करने में पाटी की आवश्यकता पड़ती है।' लोगों की धारणा है कि यह शब्द भारतवर्ष के संस्कृतेतर साहित्य से निकला है जो कि उत्तरी भारतवर्ष की एक प्रान्तीय भाषा थी। 'लिखने की पाटी' के प्राचीनतम संस्कृत पर्याय 'फलक' और 'पट्ट' हैं, न कि 'पाटी'। 'पाटी' शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में प्रायः सातवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ। गणित कर्म को कभी-कभी 'धूलीकर्म' भी कहते थे, क्योंकि पाटी पर धूल बिछाकर अंक लिखे जाते थे। बाद के कुछ लेखकों ने 'पाटीगणित' के अर्थ में 'व्यक्त गणित' का प्रयोग किया है, जिससे कि यह 'बीजगणित' से, जिसे वे 'अव्यक्त-गणित' कहते थे, पृथक् समझा जाय। जब संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद हुआ तो 'पाटीगणित' और 'धूलीकर्म' शब्दों का भी अरबी में अनुवाद कर लिया गया। अरबी के गणित [illegible] 'हिसाब [illegible] [illegible]।

वेली, फ्लीट, और बहुत से अन्य लोगो को सदेह है कि हिन्दू गणित के पाटी शब्द की उत्पत्ति इस बात मे निहित है कि पाटी का प्रयोग एबैकस के रूप में होता था। परन्तु इस अनुमान का कोई आधार नही है, क्योकि भारतवर्ष मे एबैकस के किसी प्रकार का उल्लेख नही मिलता।

ब्रह्मगुप्त के अनुसार पाटीगणित मे वीस परिकर्म और आठ व्यवहार है। उनका कथन है

*"गणक वही है जो सकलित से आरम्भ होनेवाले वीस परिकर्मो को तथा छाया मे अन्त होनेवाले आठ व्यवहारो को पृथक्-पृथक् जानता है।"*[1]

पृथूदक स्वामी के अनुसार बीस परिकर्मों के नाम ये है (१) सकलित, (२) व्यवकलित, अथवा व्युत्कलित, (३) गुणन, (४) भागहार, (५) वर्ग, (६) वर्गमूल, (७) घन, (८) घनमूल, (९-१३) पाँच जातियाँ (अर्थात् पाँच प्रकार की भिन्नो को सरल करने के नियम), (१४) त्रैराशिक, (१५) व्यस्त-त्रैराशिक, (१६) पचराशिक, (१७) सप्तराशिक, (१८) नवराशिक, (१९) एकादशराशिक, और (२०) भाण्ड-प्रति-भाण्ड। आठ व्यवहारो के नाम ये है (१) मिश्रक-व्यवहार, (२) श्रेढी-व्यवहार, (३) क्षेत्र-व्यवहार, (४) खात-व्यवहार, (५) चिति व्यवहार, (६) क्राकचिक-व्यवहार, (७) राशि-व्यवहार, और (८) छाया-व्यवहार।

उपर्युक्त परिकर्मो मे से पहले आठ परिकर्मो को महावीर और परवर्ती लेखको ने मौलिक माना है। द्विगुणीकरण और अर्धीकरण के परिकर्म, जिन्हे मिस्र, यूनान, और अरबवालो ने मौलिक माना है, हिन्दू गणित के ग्रथो मे उपलब्ध नही है। ये परिकर्म उन लोगो के लिए महत्त्वपूर्ण थे जो दशमलव पद्धति मे अनभिज्ञ थे। भारतीय ग्रथो मे, जो सब के सब दशमलव पद्धति का प्रयोग करते है, उनका अभाव है।

### उपलब्ध ग्रथ

उपलब्ध ग्रथो मे से निम्नलिखित केवल पाटीगणित से सम्बन्ध रखते है वक्षाली हस्तलिपि (ल० ३०० ई०), श्रीधरकृत पाटीगणित और त्रिशतिका (ल० ७५० ई०), गणित सार सग्रह (ल० ८५० ई०) गणित-तिलक (१०३९ ई०), लीलावती (११५० ई०), गणित-कौमुदी (१३५६ ई०) और मुनीश्वर

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, अध्याय १२, श्लोक १।

कृत पाटीसार (१६५८ ई०)। इन ग्रंथों में उपर्युक्त बीस परिकर्म और आठ व्यवहारों का वर्णन है। सूत्रों के साथ साथ उनके प्रयोग को समझाने के लिये उदाहरण भी दिए गये हैं।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रंथों में भी गणित का एक प्रकरण रहता है। पहले पहल आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) ने आर्यभटीय नामक अपने सिद्धान्त में गणित सम्बन्धी एक अध्याय सम्मिलित किया था। ब्रह्मगुप्त ने इस बात में आर्यभट का अनुकरण किया, और तत्पश्चात् सिद्धान्त ग्रंथों में गणित पर एक अध्याय रखने की परम्परा सी हो गयी।[1] पहले के सिद्धान्तों में यह विशेषता नहीं है। उदाहरणतः, सूर्य सिद्धान्त में गणित से सम्बन्ध रखनेवाला कोई अध्याय नहीं है। यही बात वासिष्ठ, पैतामह और रोमक सिद्धान्तों के लिए भी सत्य है। भास्कर प्रथम और लल्ल ने भी जो आर्यभट के प्रधान अनुयायी हैं अपने ज्योतिष-ग्रंथों में गणित को स्थान नहीं दिया है कदाचित् इसलिए कि उनके ग्रंथ तन्त्र हैं, सिद्धान्त नहीं।

लेखन और अध्यापन

जाती थी। अंक धूल पर या तो उँगली के अग्रभाग से अथवा लकड़ी की नुकीली कील से लिखे जाते थे। ज्यों-ज्यों गणना बढ़ती थी अनावश्यक अंक मिटा दिये जाते थे। कभी-कभी पाटी पर खड़िया के टुकड़े से भी लिखते थे। गणना करने में विद्यार्थी पद-पद पर प्रयुक्त सूत्र का उच्चारण करता था, शिक्षक इसकी देख-भाल करता था और अशुद्धि होने पर विद्यार्थी की सहायता करता था। जब विद्यार्थी अपनी पुस्तक में दिये हुए प्रश्नों को हल करने में पर्याप्त निपुण हो जाता था, तब शिक्षक उसे अन्य प्रश्न करने को देता था। प्रत्येक पेशेवर शिक्षक के पास ऐसे चुने हुए प्रश्नों का भांडार होता था जो या तो उसके स्वयं बनाये हुए होते थे अथवा अन्य स्रोतों से संगृहीत होते थे। इस अवस्था में पहुँचने पर विद्यार्थी सरल सूत्रों की उपपत्ति समझने लगता था। जब विद्यार्थी ऐसी अवस्था में पहुँच जाता था, तब शिक्षक उसे अधिक कठिन सूत्रों की उपपत्ति बताता था।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होगा कि शिक्षण की यह रीति इस बात में दोषपूर्ण थी कि पहली दो अवस्थाओं में अध्ययन का काम बिल्कुल यंत्रवत् होता था। जो विद्यार्थी अध्ययन की तीनों अवस्थाओं को पूरा नहीं करता था वह कण्ठस्थ किये हुए सूत्रों को प्रयोग करने के अतिरिक्त प्रायः कुछ नहीं जानता था, और प्रयुक्त सूत्रों की उपपत्ति से अनभिज्ञ होने के कारण, उनको प्रयोग करते समय अशुद्धियाँ करने को बाध्य होता था। हम यहाँ बता दें कि बहुत कम शिक्षक ऐसे होते थे जो शिक्षण की सब अवस्थाओं में विद्यार्थी का पथ-प्रदर्शन कर सकते थे, अतएव उत्साही विद्यार्थी को, जिसे आगे बढ़ने की इच्छा होती थी, किसी विद्या के केन्द्र को अथवा किसी सुप्रसिद्ध विद्वान् के पास अध्ययन के लिए जाना पड़ता था।

गणित सबसे कठिन विषय है और सदा से ही ऐसा रहा है, और चूंकि उच्च गणित का ज्ञान आर्थिक लाभ का नहीं हो सकता था अतएव बहुत कम लोग मन लगा कर इसका अध्ययन करते थे। तथापि भारतवर्ष में हिन्दुओं के धार्मिक कृत्यों में कुछ गणित और ज्योतिष की आवश्यकता पड़ती थी। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल से कुछ लोग सदैव ऐसे ही रहे हैं जिनका धंधा भविष्य-कथन था। ये लोग गणक या ज्योतिषी कहलाते थे और अपने भक्तों को अपनी विद्या से प्रभावित करने के लिए कुछ गणित और ज्योतिष का ज्ञान रखते थे। इससे विदित होगा कि किसी हद तक गणित का अध्ययन भारतवर्ष में प्रायः सभी स्थानों में होता था। परन्तु जैसा हमेशा होता है, कुछ विद्यार्थियों को इस विषय में विशेष अनुराग

हुआ, उन्होंने उस विषय का पूर्ण अध्ययन किया और ग्रंथों पर भाष्य लिखे अथवा स्वतंत्र ग्रंथों का निर्माण किया।

**गणित की अवनति**

यह सब तभी हुआ जब देश में सुख और शांति थी। जब विदेशी आक्रमणों, आभ्यन्तरिक युद्धों तथा अयोग्य शासन व्यवस्था से देश में शांति का वातावरण भंग हुआ, गणित और वस्तुतः सभी विज्ञानों का अध्ययन शिथिल पड़ गया। अलबरूनी, जिसने उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष का भ्रमण उस काल में किया था जब महमूद के उद्देश्य से किये गये अफगानों के अनेक आक्रमणों के कारण देश में अशान्ति व्याप्त थी। शिकायत करता है कि उसे एक भी ऐसा पंडित नहीं मिला जो उसे भारतीय गणित के सिद्धान्तों से अवगत कराता। यद्यपि अलबेरूनी की परिस्थिति विचित्र थी, क्योंकि कोई भी आदरणीय पंडित विदेशी व्यक्ति की विशेषतः उन आक्रमणकारियों और देवमन्दिरों के लूटनेवालों के वर्ग का रहा हो, सहायता करने को तैयार न होता तो भी हमें पूर्ण विश्वास है कि पंजाब में उस समय अच्छे विद्वानों की संख्या बहुत कम थी।

तथापि यह निश्चित है कि ग्यारहवीं शताब्दी के बाद भारतवर्ष में बहुत ही कम मौलिक कार्य हुआ। प्राचीन ग्रंथों पर भाष्य अवश्य लिखे गये और कुछ नवीन ग्रंथों की रचना भी हुई, परन्तु उन ग्रंथों में नियम अथवा विषय सम्बन्धी कोई ऐसा गुण नहीं था कि वे भास्कर द्वितीय के ग्रंथों का, जो पिछली नव शताब्दियों से अपने विषयों के प्रामाणिक ग्रंथ माने जाते हैं, स्थान लेने में समर्थ होते।

**शालिक परिचय**

करने की आधुनिक विधि और वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल निकालने के नियमो का वर्णन सभी ग्रथो मे मिलता है।

यद्यपि उपर्युक्त मौलिक परिकर्मों के केवल अत्यन्त सक्षिप्त विवरण उपलब्ध है, तो भी इन परिकर्मों को करने की प्राचीन विधियो का पुर्ननिर्माण करना कठिन नही है, क्योकि ये विधियाँ सुप्रसिद्ध है और पिछले १५०० वर्षो मे या और भी अधिक काल से विद्यार्थियो को अविकल रूप मे सिखायी जा रही है। आज भी जो विद्यार्थी आधुनिक स्कूलो मे न पढ कर संस्कृत पाठशालाओं मे शिक्षा प्राप्त करते है इन परिकर्मों को प्राचीन पद्धति के अनुसार पाटी पर करते है। इन विधियो के विस्तृत विवरण पृथूदक स्वामी, और भास्कर द्वितीय आदि द्वारा लिखे हुए प्राचीन ग्रथो के भाष्यो मे भी मिलते है।

जैसा ऊपर कह आये है, गणना का कार्य पृथ्वी पर अथवा पाटी पर धूल बिछा कर किया जाता था।[1] कभी-कभी खडिया के टुकडे से पाटी पर लिख कर भी गणना की जाती थी। परन्तु चूकि लिखे हुए अक आकार मे बडे होते थे, अतएव पाटी पर अको की बहुत सी पक्तियाँ नही आ पाती थी। अतएव अनावश्यक अको को मिटा देने की प्रथा थी। परिकर्मों का विस्तृत विवरण देते समय, आगे उदाहरण द्वारा इसका स्पष्टीकरण किया जायगा।

प्राचीन काल से ही हिन्दू गणितज्ञ इस बात को मानते रहे है कि गणित के सब परिकर्म मूलत दो परिकर्मों—सकलित और व्यवकलित—पर आश्रित है। इस सम्बन्ध भास्कर प्रथम का निम्नलिखित कथन है

"यह गणित यद्यपि चार (प्रकारो) मे व्याप्त है, (मूलत) दो प्रकार का है। वे दो प्रकार है—वृद्धि और ह्रास। जोड वृद्धि है, और घटाना ह्रास है। इन्ही दो भेदो से सम्पूर्ण गणित व्याप्त है। कहा भी गया है—

'गुणन और गत' जोड के भेद है, भाग और गतमूल[2] अन्तर के भेद कहे गये है। इस प्रकार सम्पूर्ण गणित-शास्त्र को वृद्धि और ह्रास मे व्याप्त देख कर (वस्तुत) उसके दो ही भेद मनाना चाहिए।"[3]

[1] उदाहरणत, ६ का ७वाँ गत $६^७$ है।
[2] उदाहरणत $६^७$ का ७वाँ गतमूल ७ है।
[3] देखिए भास्कर प्रथम का आर्यभटीय-भाष्य, गणित-पाद की भूमिका।

## २ सकलित (जोडना)

**परिभाषा**

आर्यभट द्वितीय (९५० ई०) ने सकलित की निम्न परिभाषा दी
"बहुत सी सख्याओ के एकीकरण को सकलित कहते है।"'

सकलित के अर्थ मे निम्नलिखित शब्दो का सामान्य रूप से प्रयो
गया है

सकलन, मिश्रण, सम्मेलन, प्रक्षेपण, सयोजन, युक्ति, योग, और ३
कुछ लेखको ने सकलित शब्द को 'जोडफल' के अर्थ मे प्रयोग कि

**करण (अर्थात् क्रिया)**

गणित और ज्योतिष के सब ग्रथो मे सकलित करने की रीति के
सर्वविदित मान लिया गया है। तो भी बाद की कुछ प्रारम्भिक पुस्तको
कुछ सक्षिप्त विवरण मिलता है। उदाहरणत भास्कर द्वितीय ने अपन
वती मे निम्न कथन किया है,

"अको को अपने अपने स्थानो के अनुसार क्रम से अथवा उत्क्रम स
चाहिए।"

**क्रम विधि**

सकलित की उपर्युक्त क्रम विधि मे पहले सख्याओ को आधुनिक रीति
ऊपर नीचे लिखते थे और तब सबसे नीचे (ऊपर) वाली सख्या के नीचे
सख्या लिख कर सीधत थ जिसके नीचे (ऊपर) आदर्श लिखा ज

पहले इकाई के अको को जोड लिया जाता था, इस प्रकार योगफल का इकाई-वाला अक प्राप्त होता था। इसके बाद दहाईवाले अक जोडे जाते थे, और आये हुए जोड मे क्षैतिज रेखा के नीचे लिखी हुई दहाई को (यदि होती थी तो) जोडते थे, इस प्रकार योगफल का दहाईवाला अक प्राप्त होता था। इसके बाद इसी प्रकार क्रम से सैकडे, हजार आदि के अक जोडे जाते थे। एक प्रकारान्तर यह भी था कि जोडी जानेवाली सबसे बडी सख्या सबसे ऊपर लिखी जाती थी और इस सख्या के अको को मिटा-मिटा कर योगफल के अक लिखे जाते थे।[1]

### उत्क्रम विधि

उत्क्रम विधि मे पहले अन्तिम (बिलकुल बायी ओर) वाले स्थान के अक जोड कर क्षैतिज रेखा के नीचे लिखे जाते है। उसके बाद क्रमश दाहिनी ओर के स्थानो के अक जोडे जाते है। आशिक योगफलो के अक, आवश्यकता पडने पर, अगले स्थान के अको को जोडने के पश्चात् शुद्ध कर लिये जाते है। उदाहरणार्थ, यदि अतिम स्थान के अको का जोड १२ होता है तो १२ को क्षैतिज रेखा के नीचे इस प्रकार स्थापित करते है कि अक २ अतिम स्थान के ठीक नीचे पडता है। इसके बाद यदि अगले स्थान के अको का जोड १३ होता है तो अक ३ को जुडे हुए अको के स्थान के ठीक नीचे लिखते है और १ को बायी ओर के (पहले ही से लिखे हुए) अक २ मे जोड देते है (अर्थात २ को मिटा कर उसके स्थान मे ३ लिख देते है)।[2]

[1] सुधाकर द्विवेदी, गणित का इतिहास, बनारस, १९१०, पृ० ६०।

[2] मनोरजन नामक टीका में सकलित की प्रक्रिया निम्न प्रकार से समझायी गयी है.

उदाहरण। २, ५, ३२, १९३, १८, १०, और १०० का योग ज्ञात करो।

| | | |
|---|---|---|
| इकाइयो का जोड | २, ५, २, ३, ८, ०, ० | २० |
| दहाइयो का जोड | ३, ९, १, १, ० | १४ |
| सैकडो का जोड | १, ० ० १ | २ |
| कुल जोड | | ३६० |

टीकाकार ने क्रम और उत्क्रम विधियो को एक साथ समझाने के लिए क्षैतिज क्रम का प्रयोग किया है। परन्तु इसका कभी प्रयोग नही हुआ।

अरबवाले ऊर्ध्वाधर रेखा खींचकर स्थानों का पृथक्करण कर देते थे, परन्तु हिन्दू लोग ऐसा नहीं करते थे।[1]

## ३ व्यवकलित (घटाना)

**परिभाषा**

आर्यभट द्वितीय ने व्यवकलित की निम्न परिभाषा दी है

"सर्वधन में से कुछ घटाने को 'व्यवकलित' कहते हैं, (घटाने पर) जो बचता है उसे 'शेष' कहते हैं।"

व्यवकलित के अर्थ में निम्नलिखित शब्दों का भी प्रयोग किया गया है व्युत्कलित, व्युत्कलन, शोधन, पातन, वियोग इत्यादि।

जिस संख्या में से कोई संख्या घटाई जाती है उसे सर्वधन या वियोज्य कहा गया है, और जो संख्या घटाई जाती है उसे वियोजक कहा गया है। घटाने से बची हुई संख्या को शेष अथवा अन्तर कहा गया है।

**प्रकरण**

भास्कर द्वितीय ने व्यवकलित के लिए निम्नलिखित नियम दिया है

'अंकों को अपने अपने स्थानों के अनुसार क्रम से अथवा उत्क्रम से घटाना चाहिए।'[1]

**क्रम (या अनुलोम) विधि**

है, और शेष ग्रहण किया जाता है, और वह १० आगेवाले स्थान से घटाया जाता है। इस प्रकार वह १० अंतिम सख्या तक तब तक लिया जाता है जब तक उसका पूर्ण रूप से ह्रास नही हो जाता। दूसरे शब्दो मे ९ तक के अक एक स्थान लेते है, स्थान का अन्तर पडना १० से आरम्भ होता है, अतएव ज्ञात किया जाता है कि 'सख्या मे कितनी दहाइया है', और इसलिए वह अक जो अपने स्थान मे नही घटाया जा सकता वह आगे की दहाई मे घटाया जाता है, और शेष का ग्रहण किया जाता है।"

उपर्युक्त विधि मे घटाने का क्रम इकाई मे आरम्भ होना है, अतएव इसे क्रम विधि कहते है।

### उत्क्रम विधि

उत्क्रम विधि भी क्रम विधि के सदृश है। अन्तर केवल इतना है कि इसमे घटाने का क्रम सर्वधन के अन्तिम स्थान से आरम्भ किया जाना है, और पहले के आशिक शेष, आवश्यकता पडने पर, बाद मे शुद्ध कर लिये जाते है। इस विधि का प्रयोग पाटी पर ही किया जा सकता है, क्योकि अको का मिटाना और शुद्ध करना पाटी पर ही सम्भव है। यह विधि क्रम-विधि से सरल समझी जाती थी, और यही विधि सामान्य रूप से भारतवर्ष मे प्रचलित थी।[1]

## ४ गुणन

### परिभाषा

गुणन शब्द अत्यत प्राचीन है, क्योकि इसका प्रयोग वैदिक साहित्य मे मिलता है। गुणन के अर्थ म हनन, वध, और क्षय इत्यादि शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। इन शब्दो का शाब्दिक अर्थ 'वध करना' अथवा 'नष्ट करना' है। प्रतीत होता है कि इन शब्दो का प्रचार दशमलव स्थान-मानवाली सख्याओ को गुणा करने के नवीन नियमो के बन जाने के बाद हुआ, क्योंकि नवीन नियम के अनुसार गुण्य राशि के अक एक-एक करके मिटा दिये जाते थे और उनके स्थान मे गुणनफल के अक लिख दिये जाते थे।[2] हनन शब्द के पर्यायवाचक शब्दो का प्रयोग आर्यभट

[1] गगाधर के अनुसार घटाने में उत्क्रम विधि सरल पडती है और जोड में क्रम विधि।

[2] आगे पृ० १२९ में कपाट-सन्धि गुणन की विधि का वर्णन दिया गया है।

प्रथम[1], ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, और परवर्ती लेखकों के ग्रंथों में मिलता है। बक्षाली हस्तलिपि में भी इन शब्दों का प्रयोग हुआ है।[2]

'अभ्यास' शब्द का प्रयोग जोड़ और गुणन दोनों अर्थों में शुल्ब ग्रंथों (८००-४०० ई० पू०) में मिलता है। इससे विदित होता है कि प्राचीन काल में गुणन करने की प्रक्रिया अनेक बार जोड़ने पर आधारित थी। गुणन के अर्थ में बक्षाली हस्तलिपि[3] में प्रयुक्त शब्द 'पर्स्परकृत' ('एकत्र करना') स्पष्टतः प्राचीन काल का अवशेष है। इस प्राचीन शब्दावली से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में गुणन की परिभाषा थी—'जोड़ की वह प्रक्रिया जिसमें गुण्य को गुणक संख्या तुल्य बार लिख कर जोड़ा जाता हो।' यह परिभाषा भास्कर प्रथम के आर्यभटीय-भाष्य में मिलती है। लीलावती के टीकाकारों ने भी गुणन की यही परिभाषा दी है।[4] 'भास्कर प्रथम' ने निम्नलिखित शब्दों को गुणन शब्द के पर्यायवाचक माना है: संवर्ग, घात, हति, और उद्धतना।

जिस संख्या को गुणा किया जाता है उसे 'गुण्य' कहते हैं और जिस संख्या से गुणा किया जाता है उसे 'गुणक' अथवा 'गुणकार' कहते हैं। गुणा करने से जो संख्या प्राप्त होती है उसे 'गुणनफल' अथवा 'प्रत्युत्पन्न' कहते हैं। ये शब्द गणित के सभी उपलब्ध ग्रंथों में मिलते हैं।

### गुणन की विधियाँ

आर्यभट प्रथम ने गुणन की सामान्य क्रिया का वर्णन नहीं किया है, कदाचित् इसलिए कि वे इतनी सरल और सुप्रसिद्ध थीं कि उनका सिद्धान्त-ग्रंथ में निवेश उचित नहीं था। यद्यपि ब्रह्मगुप्त ने तथा अन्य सिद्धान्तकारों ने गणिताध्याय में कुछ क्रियाओं के नाम दिये हैं और [illegible] किया है।

'गुणकार में जितने (स्थान खंड) हों उतनी [illegible] (स्पष्ट [illegible])

[1] आर्यभटीय, गणितपाद, श्लोक १६ [illegible] [illegible]।

[2] बक्षाली हस्तलिपि, पत्र ९५ (व)।

[3] बक्षाली हस्तलिपि पत्र ३ (व)।

[4] कोलब्रुक हिन्दू अलजेबरा पृ० [illegible]।

[5] आर्यभटीय गणितपाद ३ (भाष्य)।

[6] इसका एक अनुवाद कोलब्रुक ने [illegible] (हिन्दू [illegible]) किया है।

गोमूत्रिकावत् (एक-एक स्थान हटा कर) लिखो, उसके बाद उनको (गुणकार के सगत स्थान खडो से) गुणा करके एक में जोड दो। इस प्रकार गुणनफल की प्राप्ति होगी।

अथवा, गुणकार के खडो[1] की जो सख्या हो उतनी बार गुण्य को (अलग-अलग ऊपर नीचे) लिखो (और जोड दो। इन जोडो को परिस्थिति के अनुसार, आपस मे जोड दो अथवा गुणा करो। इस प्रकार भी गुणनफल की प्राप्ति होगी)।[2]

"(अथवा) गुण्य को गुणकार और किसी इष्ट सख्या के योग अथवा अन्तर से गुणा करो, और गुणनफल मे इष्ट और गुण्य के गुणनफल को घटा अथवा जोड दो।"[3]

इस प्रकार ब्रह्मगुप्त ने गुणन की चार विधियो का वर्णन किया है (१) गोमूत्रिका, (२) खण्ड, (३) भेद, और (४) इष्ट। कपाट सन्धि नामक सामान्य एव सुप्रसिद्ध विधि को उन्होंने छोड दिया है।

श्रीधर ने गुणन की निम्नलिखित विधियो का वर्णन किया है (१) कपाट-सन्धि, (२) तत्स्थ, (३) रूपविभाग, और (४) स्थानविभाग। महावीर ने भी इन्ही चार की चर्चा की है। आर्यभट द्वितीय ने केवल कपाट-सन्धि नामक सामान्य विधि का वर्णन किया है। भास्कर द्वितीय ने इन चार विधियो के अतिरिक्त ब्रह्मगुप्त के इष्टगुणन का भी वर्णन किया है। भास्कर द्वितीय द्वारा वर्णित पाच विधियो का वर्णन पहले के लेखक श्रीपति ने अपने सिद्धान्त शेखर मे किया था। गणेश दैवज्ञ[4] (ल १५४५ ई०) ने 'गेलोसिया' नामक विधि को कपाट-सन्धि

[1] खड का अर्थ है वे सख्याएँ जिनका योग गुणनफल दी हुई सख्या के तुल्य हो।

[2] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, अध्याय १२, श्लोक ५५।

[3] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, अध्याय १२, श्लोक ५६। कोलब्रुक (पूर्वक्ति ग्रथ, पृ० ३२०) का विचार है कि यह नियम उस अवस्था में शुद्ध गुणनफल निकालने के लिए है जब भूल से गुण्यराशि कुछ छोटी या बडी ले ली गयी हो। यह विचार ठीक नहीं है।

[4] लीलावती पर टीका (एशियाटिक सोसायटी ऑव बगाल, कलकत्ता, हस्तलिपि न० १ बी ६), पृ० १७, १८। इस ग्रथ में केवल दो विधियाँ दी गयी है (१) कपाटसधि और (२) कपाटसधि (ब)।

के नाम से वर्णित किया है, और लिखा है कि बुद्धिमान व्यक्ति गुणन की अनेक दूसरी विधियाँ निकाल सकता है। इनकी कपाट-सन्धि विधि गणित-मञ्जरी में वर्णित है। हमने इस विधि को कपाट-सन्धि (ब) कहा है।

हिन्दुओं द्वारा प्रयुक्त सात' विभिन्न विधियों का विवरण नीचे दिया जा रहा है। इनमें से कुछ तो २०० ई० तक की पुरानी हैं। ये विधियाँ आठवीं शताब्दी में अरब को ले जायी जा चुकी थीं और वहाँ से इनका प्रवेश यूरोप में हुआ था। यूरोप में इनके दर्शन मध्यकालीन लेखकों की कृतियों में होते हैं।

कपाट-सन्धि विधि

श्रीधर ने इस विधि का निम्न प्रकार से वर्णन किया है

'गुणक के नीचे कपाटसन्धि की भाँति गुण्य को रखकर विलोम अथवा अनुलोम विधि के अनुसार गुणक का एक-एक स्थान हटा-हटा कर क्रम से गुणा करो।'

आर्यभट द्वितीय ने इस विधि का वर्णन तो किया है परन्तु उसका नाम नहीं दिया है

'गुणक को कपाट की भाँति गुण्य के अन्तिमवाले अंक के ठीक ऊपर (इस तरह गुणक और गुण्य ऊपर नीचे) स्थापित करो। इसके बाद (एक-एक करके) गुण्य के प्रत्येक अंक से गुणक के सभी अंकों को गुणा करो।'

श्रीपति ने इस विधि का कपाट-सन्धि नाम [illegible] निम्न प्रकार से वर्णन किया है,

'गुणक के नीचे गुण्य [illegible] विलोम अथवा अनुलोम विधि [illegible] गुणा करो।

महावीर ने कपाटसंधि नाम की विधि का उल्लेख किया है परन्तु उसका विवरण नही दिया है[1], और भास्कर द्वितीय ने इसे समझाया है परन्तु इसका नाम नही दिया है। नारायण ने कपाटसंधि का नाम भी दिया है और उसका वर्णन भी किया है जो प्राय शब्दश श्रीधर वाले वर्णन के अनुरूप है।

इस विधि की विशेषताएँ ये हैं (१) गुण्य और गुणकार के सापेक्ष स्थान और (२) गुण्य के अको का मिटाना और उनके स्थान मे गुणनफल के अको का स्थापन। पहली विशेषता के कारण इस विधि का नाम कपाट-संधि पडा और दूसरी विशेषता के कारण गणित के ग्रथो मे मिलनेवाले हनन, वध, इत्यादि शब्दो का आविर्भाव हुआ। ये शब्द आर्यभट प्रथम और ब्रह्मगुप्त के ग्रथो मे तथा बक्षाली हस्तलिपि मे मिलते है जिससे निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि यह विधि ३०० ई० के लगभग भारतवर्ष मे ज्ञात थी।

निम्नलिखित उदाहरणो[2] की सहायता से कपाट-संधि की क्रम और उत्क्रम दोनो विधियाँ समझ मे आ जायँगी।

**क्रम (अनुलोम) विधि**

प्रतीत होता है कि इस विधि का अधिक प्रचार नही था, क्योकि ग्यारहवी शताब्दी के बाद उसका कोई उल्लेख नही मिलता। इसका अन्तिम बार उल्लेख श्रीपति ने किया है।

**उदाहरण**। १३५ को १२ से गुणा करो।

पहले इन सख्याओ को पाटी पर निम्नलिखित प्रकार से लिखते है

| | |
|---|---|
| गुणक | १२ |
| गुण्य | १३५ |

उसके बाद गुण्य के इकाइवाले अक (५) को गुणक के अको से गुणा करते है। इस प्रकार ५×२=१०, ० को २ के नीचे लिखते है और १ को एक स्थान बायी ओर ले जाते है।[3] इसके बाद ५×१=५, इसमे (आगे ले गये अक)

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ६।

[2] ये उदाहरण लीलावती की टीकाओ, विशेषकर मनोरजन नाम की टीका, पर आधारित है। मनोरजन में ये विधियाँ अधिक विस्तार में समझायी गयी है।

[3] नया विद्यार्थी कदाचित् इसे पाटी पर अन्यत्र लिख लेता था।

१ को जोड़ने पर ६ प्राप्त होता है। (पाटी पर लिखे हुए) ५ की अब आवश्यकता न होने से उसे मिटा देते हैं और उसके स्थान में प्राप्त ६ को लिख देते हैं। इस प्रकार पाटी पर अब निम्नलिखित संख्याएँ होती हैं

१२
१३६०

अब गणक को एक स्थान बायीं ओर हटाते हैं।

१२
१३६०

अब ३ को गणक के अंकों से गुणा करते हैं। इसका विवरण यह है ३×२=६, इस ६ को २ के नीचे लिखे हुए ६ में जोड़ने पर १२ प्राप्त होता है। ६ को मिटाकर उसके स्थान में २ लिख देते हैं। १ को आगे ले जाते हैं। इसके बाद ३×१=३, ३+(आगे ले जाया गया) १=४। ३ को मिटाकर उसके स्थान में ४ लिख देते हैं। इस प्रकार ३ का १२ से गुणा हो जाने पर १२ को फिर एक स्थान बायीं ओर हटाकर लिखते हैं। अब पाटी पर निम्नलिखित संख्याएँ होती हैं।

१२
१४२०

महावीर ने कपाटसंधि नाम की विधि का उल्लेख किया है परन्तु उसका विवरण नहीं दिया है[1], और भास्कर द्वितीय ने इसे समझाया है परन्तु इसका नाम नहीं दिया है। नारायण ने कपाटसंधि का नाम भी दिया है और उसका वर्णन भी किया है जो प्राय शब्दश श्रीधर वाले वर्णन के अनुरूप है।

इस विधि की विशेषताएं ये हैं (१) गुण्य और गुणकार के सापेक्ष स्थान और (२) गुण्य के अकों का मिटाना और उनके स्थान मे गुणनफल के अकों का स्थापन। पहली विशेषता के कारण इस विधि का नाम कपाट-संधि पड़ा और दूसरी विशेषता के कारण गणित के ग्रथो मे मिलनेवाले हनन, वध, इत्यादि शब्दो का आविर्भाव हुआ। ये शब्द आर्यभट प्रथम और ब्रह्मगुप्त के ग्रथो मे तथा बक्षाली हस्तलिपि मे मिलते है जिससे निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि यह विधि ३०० ई० के लगभग भारतवर्ष मे ज्ञात थी।

निम्नलिखित उदाहरणो[2] की सहायता से कपाट-संधि की क्रम और उत्क्रम दोनो विधियाँ समझ मे आ जायँगी।

**क्रम (अनुलोम) विधि**

प्रतीत होता है कि इस विधि का अधिक प्रचार नही था, क्योकि ग्यारहवी शताब्दी के बाद उसका कोई उल्लेख नही मिलता। इसका अन्तिम बार उल्लेख श्रीपति ने किया है।

**उदाहरण**। १३५ को १२ से गुणा करो।

पहले इन सख्याओ को पाटी पर निम्नलिखित प्रकार मे लिखते है

| | |
|---|---|
| गुणक | १२ |
| गुण्य | १३५ |

उसके बाद गुण्य के इकाईवाले अक (५) को गुणक के अको से गुणा करते हैं। इस प्रकार ५×२=१०, ० को २ के नीचे लिखते है और १ को एक स्थान बायी ओर ले जाते है।[3] इसके बाद ५×१=५, इसमे (आगे ले गये अक)

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ९।

[2] ये उदाहरण लीलावती की टीकाओ, विशेषकर मनोरजन नाम की टीका, पर आधारित है। मनोरजन में ये विधियाँ अधिक विस्तार में समझायी गयी है।

[3] नया विद्यार्थी कदाचित् इसे पाटी पर अन्यत्र लिख लेता था।

१ को जोडने पर ६ प्राप्त होता है। (पाटी पर लिखे हुए) ५ की अब आवश्यकता न होने से उसे मिटा देते हैं और उसके स्थान मे प्राप्त ६ को लिख देते हैं। इस प्रकार पाटी पर अब निम्नलिखित सख्याएँ होती है

१२
१३६०

अब गुणक को एक स्थान बायी ओर हटाते हैं।

१२
१३६०

अब ३ को गुणक के अको से गुणा करते हैं। इसका विवरण यह है ३×२= ६; इस ६ को २ के नीचे लिखे हुए ६ मे जोडने पर १२ प्राप्त होता है। ६ को मिटाकर उसके स्थान मे २ लिख देते हैं। १ को आगे ले जाते हैं। इसके बाद ३×१=३, ३+(आगे ले जाया गया) १=४। ३ को मिटाकर उसके स्थान मे ४ लिख देते है। इस प्रकार ३ का १२ से गुणा हो जाने पर १२ को फिर एक स्थान बायी ओर हटाकर लिखते है। अब पाटी पर निम्नलिखित सख्याएँ होती है।

१२
१४२०

अब २×१=२, २+४=६, ४ को मिटाकर उसके स्थान मे ६ लिखते है। १×१=१ को ६ के बायी ओर लिखते है। अब क्रिया समाप्त हो जाने के कारण, गुणक १२ को मिटा देते है और पाटी पर निम्नलिखित सख्या शेप रहती है

१६२०

इस प्रकार १२ और १३५ सख्याओ का 'हनन'[1] हो गया और एक नयी सख्या १६२० प्रत्युत्पन्न हो गयी।[2]

पाठक देखेगे कि गुणक का स्थान और उसका चालन दो महत्त्वपूर्ण कार्य

[1] यही कारण है कि गुणन के अर्थ में हनन और इसी प्रकार के अन्य पर्याय-वाचक शब्दो का प्रयोग किया जाता था।

[2] अतएव गुणनफल को प्रत्युत्पन्न कहते थे।

करता है, अर्थात् (१) गुणक का अन्तिम स्थान इस बात को संकेत करता है कि गुण्य के किस अंक तक गुणा करना है, और (२) गुणक का स्थान इस बात को सूचित करता है कि गुणनफल को उसके नीचे लिखे हुए अंक में जोड़ना है।

कभी-कभी गुण्य के किसी अंक को गुणक से गुणा करने पर गुणनफल गुणक के अन्तिम स्थान से आगे निकल जाता है। ऐसी परिस्थिति में आंशिक गुणनफल का अन्तिम अंक अन्यत्र लिख लिया जाता है। १३५ को ९० से (उपर्युक्त विधि से) गुणा करने पर पाठक को यह बात देख पड़ेगी।

नये विद्यार्थी को ऐसी परिस्थितियों में निम्नलिखित दो प्रकार की अशुद्धियां कर देने की सम्भावना रहती थी (१) अन्यत्र लिखे हुए अंक का अशुद्ध प्रयोग कर देने की, और (२) गुणक के अन्तिम स्थान के आगे लिखे हुए गुण्य के अंकों को मिटा देने की। इन कारणों से इस विधि का अधिक प्रचार नहीं हुआ, और उत्क्रम विधि अधिक पसन्द की जाती थी।

**उत्क्रम (विलोम) विधि :**

उत्क्रम विधि के दो प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं।

(अ) पहले में संख्याएँ निम्न प्रकार से लिखी जाती हैं।

| | |
|---|---|
| गुणक | १२ |
| गुण्य | १३५ |

गुणन का आरम्भ गुण्य के अन्तिम अंक से होता है। इस प्रकार १×२=२, १ को मिटाकर उसके स्थान में २ लिखा जाता है, इसके बाद १×१=१, यह १ उसके बायीं ओर लिखा जाता है।[1] इसके बाद गुणक १२ को एक स्थान दाहिनी ओर हटाते हैं। पाटी पर अब निम्न संख्याएँ होती हैं।

१२
१२३५

अब, ३×२=६, ३ को मिटाकर उसके स्थान में ६ लिखते हैं। अब ३×१=३ और ३+२=५, २ को मिटाकर उसके स्थान में ५ को लिखते हैं। इसके बाद

[1] अथवा प्रकारान्तर से: १×१=१ और तब १×२=२, इस प्रकार गुण्य में १ के स्थान में १२ हो जाता है, इत्यादि।

गुणक को पुन एक स्थान दाहिनी ओर हटाते है। पाटी पर अब निम्न संख्याएँ होती है।

१२
१५६५

अब ५×२=१०, ५ को मिटाकर उसके स्थान मे ० लिखते है। अब ५×१=५, ५+१=६, ६+६=१२, ६ को मिटाकर उसके स्थान मे २ रखते है, और १ को दहाई मे ले जाते है अर्थात् ५ मे जोडते है, इस प्रकार ५ को मिटाकर उसके स्थान मे ६ लिखते है। पाटी पर अब निम्न संख्या होती है

१६२०

जो कि इष्ट गुणनफल है। दहाई मे जोडे जानेवाले अक पाटी पर अन्यत्र लिख लिये जाते है और उनका जोड हो चुकने पर मिटा दिये जाते है।

(ब) दूसरे मे (गुणक के अको द्वारा) आशिक गुणनफल क्रम-विधि से किया जा सकता है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि आशिक गुणनफल उत्क्रम विधि मे करने की परिपाटी थी। निम्न उदाहरण से यह विधि समझ मे आ जायगी।

**उदाहरण।** ३२४ को ७५३ से गुणा करो।

गुणक और गुण्य निम्न क्रम मे रखे जाते है।

| | |
|---|---|
| गुणक | ७५३ |
| गुण्य | ३२४ |

गुणन का आरम्भ गुणक के अन्तिम स्थान से होता है। ३×७=२१, १ को गुणक ७ के नीचे रखते है और २ को उसके बायी ओर निम्न प्रकार से

७५३
२१ ३२४

इसके बाद ३×५=१५, ५ को गुण्य ५ के नीचे रखते है और १ को बायी ओर रखे हुए १ मे जोड देते है, अर्थात् १ को मिटाकर उसके स्थान मे योगफल २ को लिखते है। अब पाटी पर निम्न संख्याएँ होती है

७५३
२२५३२४

अब ३×३ =९, गुण्य के ३ को मिटाकर उसके स्थान में ९ को लिखते है।

७५३
२२५९२४

अब गुणक को एक स्थान दाहिनी ओर हटाते है

७५३
२२५९२४

अब ७×२=१४, ४ को ७ के नीचेवाले ५ मे और १ को ५ के बायी ओर के २ मे जोडते है।

७५३
२३९९२४

अब ५×२=१०, इस १० को ५ के नीचेवाले अको मे जोडते है

७५३
२४०९२४

अब २×३=६, इस ६ को ३ के नीचेवाले २ को मिटा कर उसके स्थान में रखते हैं

७५३
२४०९६४

इसके बाद गुणक को पुन एक स्थान दाहिनी ओर हटाते है।

७५३
२४०९६४

अब ४ को क्रमानुसार गुणक के ७, ५ और ३ से गुणा करते है, पहले दो गुणनफलो को क्रमश ७ और ५ के नीचे लिखी सख्याओ मे जोडते है और अन्तिम को ३ के नीचेवाले ४ को मिटाकर उसके स्थान में लिखते है। इस प्रकार क्रम से निम्नलिखित सख्याएँ मिलती है।

(अ) ७५३
२४३७६४

(ब) ७५३
२४३९६४

(स) ७५३
२४३९७२

यही अन्तिम सख्या २४३९७२ इष्ट गुणनफल है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, गुणक का स्थान और उसका चालन उपर्युक्त क्रिया मे महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। गुणक के अक भी भ्रम-निवारणार्थ क्रम मे एक

एक करके मिटा दिये जाते है, इस प्रकार परिस्थिति (अ) मे ७ मिटा दिया जाता और परिस्थिति (व) और (स) मे क्रमश ५ और ३ मिटा दिये जाते है।

उपर्युक्त विधि का निम्न प्रकारान्तर भी मिलता है[1]

"गुण्य १३५, गुणक १२। गुणक को गुण्य के अन्तिम स्थान पर रखने पर

१२
१३५

'अकाना वामतो गति' नियम के अनुसार गुण्य के अन्तिम अक १ को १२ मे गुणा करते है। इसके अनन्तर १२ को एक स्थान (दाहिनी ओर) हटाते है

१२
१२३५

अब, गुण्य के उपान्तिम अक ३ को १२ से गुणा करने पर निम्नलिखित की प्राप्ति होती है

१२
१२६५
३

पुन १२ को एक स्थान (दाहिनी ओर) हटाने पर

१२
१२६५
३

अब गुणक के इकाई के अक ५ को गुण्य १२ मे गुणा करने पर निम्नलिखित प्राप्त होता है।

१२
१२६०
३६

अब गुणक को मिटाने पर निम्नलिखित सख्याएँ मिलती है

[1] कृपाराम दैवज्ञ कृत लीलावत्युदाहरण, एशियाटिक सोसायटी आव बगाल, कलकत्ता, हस्तलिपि न० ३ एफ ११० ए।

१२६०
३६

जिन्हे यथास्थान जोडने पर १६२० मिलता है (जो इष्ट गुणनफल है)।

**पश्चिम में प्रवेश**

गुणन की कपाट-सन्धि विधि अरब मे प्रविष्ट की गयी थी जहाँ के लोगो ने हिंदुओ से दशमलव गणित सीखा था। इस विधि का प्रयोग अल-ख्वारिज्मी (८२५ ई०), अल-नसवी[1] (ल० १०२५ ई०), अल-हस्सार[2] (ल० ११७५ ई०), अल-कलसादी[3] (ल० १४७५ ई०) और अन्य बहुत से लेखको के ग्रथो मे मिलता है। निम्न उदाहरण अल-नसवी के ग्रथ से उद्धृत किया गया है। अल-नसवी ने इस विधि को 'अल-अमल अल-हिन्दी' तथा 'तारिक अल-हिन्दी' ("हिन्दुओ की विधि") कहा है।

**उदाहरण**। ३२४ को ७५३ से गुणा करना।

४३
३०९
२६५७
२४३६९२ अतएव गुणनफल = २४३९७२।
३२४
७५३
७५३
७५३

यहाँ पर भी गुणक और गुण्य के स्थापन की विधि हिन्दू विधि के बिल्कुल अनुरूप है। गुणक का चालन भी उसी भाँति किया गया है। चूंकि क्रिया कागज पर की गयी है, इसलिए अंकों को मिटाया न जाकर काट दिया गया है।

यूरोप मे मैक्सिमस प्लानुडेस के ग्रन्थ मे भी उपर्युक्त विधि का विवरण मिलता है।

[1] एफ वेप्के, १ (६), पृ० ४०७।
[2] एच. सूटर, बिब्लियोथेका मैथेमेटिका २ (३), पृ० १६।
[3] पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० १७।

**गेलोसिया विधि**

'गेलोसिया'[1] नाम से प्रसिद्ध विधि का गणित-मञ्जरी (१६ वी शताब्दी) मे 'कपाट-सधि विधि' कह कर वर्णन किया गया है। गणेशदैवज्ञ कृत लीलावती-टीका मे भी इसका वर्णन है। प्राचीन ग्रथकारो ने कपाट सधि का वर्णन इतना स्थूल किया है कि उसके आधार पर यह कहना कठिन है कि गणेश द्वारा प्राचीन लेखको की कपाट-सधि विधि को गेलोसिया विधि कहना कहाँ तक सगत है। हमारे मत मे गणेश का यह नामकरण अशुद्ध है।[2]

इस समय हम निश्चित रूप मे नही कह सकते कि यह विधि हिन्दुओ का आविष्कार है अथवा अरबो की देन है जिन्होने, कहा जाता है, १३वी शताब्दी मे इसका प्रयोग किया था।[3] यह विधि १४वी शताब्दी के अरबी ग्रन्थो तथा तत्कालीन यूरोपीय ग्रन्थो मे मिलती है। गणेश दैवज्ञ अपने समय के श्रेष्ठतम गणितज्ञो मे से थे और यह तथ्य कि उन्होने इस विधि को कपाट-सधि विधि कहा है प्रदर्शित करता है कि गेलोसिया विधि निस्सदेह उनके समय के बहुत समय पहले से भारतवर्ष मे प्रचलित थी।

इस विधि का केवल एक ही विवरण मिलता है जो इस प्रकार है: "गुण्य मे जितने स्थान हो उतने (वर्गाकार) कोष्ठ खीचो और उनके नीचे उतने कोष्ठ खीचो जितने गुणक मे स्थान हो। पहले कोष्ठ मे, उसके नीचेवाले कोष्ठ मे, तथा अन्य कोष्ठो मे तिर्यक् रेखाएँ खीचो। गुण्य के प्रत्येक अक को गुणक के अको मे, जो एक के नीचे एक स्थापित है, गुणा करो, और गुणन से प्राप्त अको को कोष्ठो मे रखो। तिर्यक् रेखाओ के दोनो ओर के अको का तिर्यक् योग करने पर गुणन-फल प्राप्त होता है यही कपाटसधि (गुणन) है।"[4]

निम्नलिखित उदाहरण लीलावती पर गणेशदैवज्ञ कृत टीका मे उद्धृत किया गया है

[1] हम इस विधि को कपाट-सधि (व) कहेगे।
[2] पृ० १२६ पर दिया गया श्रीपति का उद्धरण।
[3] स्मिथ, इतिहास, भाग २, पृ० ११५।
[4] ढुढिराजात्मज गणेश की गणित-मञ्जरी से अनूदित।

१३५ को १२ से गुणा करना।

| | १ | ३ | ५ | |
|---|---|---|---|---|
| | १ | ३ | ५ | १ |
| | २ | ६ | १ ० | २ |
| १ | ६ | २ | ० | |

**तिर्यक्-गुणन विधि**

श्रीधर, महावीर, श्रीपति तथा कुछ परवर्ती लेखकों ने इसे तत्स्थ विधि कहा है, परन्तु इन लोगों ने इस विधि का विवरण नहीं दिया है। श्रीधर केवल यही लिखते हैं कि 'अन्य (विधि) जिसमें गुण्य स्थिर रहता है तत्स्थ कहलाती है'।[1] यह विधि बीजीय है और इसे बीजगणित के तिर्यक् गुणन अथवा वज्राभ्यास के सदृश बतलाया गया है।[2] गणेश (ल० १५४५ ई०) ने इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है

'गुणन की वह विधि जिसमें संख्याएं स्थिर रहती हैं[3] तत्स्थ कहलाती है। उसका विवरण यह है गुण्य और उसके नीचे गुणक लिखकर इकाई को इकाई से गुणा करो और गुणनफल को उसके नीचे स्थापित करो। इसके बाद इकाई को दहाई से और दहाई को इकाई से गुणा करो, दोनों को जोड़कर गुणनफल की पंक्ति में दहाई के नीचे रखो। अब इकाई को सैकड़े से, सैकड़े को इकाई से और दहाई को दहाई से गुणा करो, और उन्हें जोड़कर पूर्ववत् (पंक्ति में सैकड़े के नीचे) लिखो, इसी प्रकार आगे शेष स्थानों को गुणा करो। इस प्रकार क्रिया

[1] त्रिशतिका पृ० ३

[2] कोलब्रुक, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० १७१, फुटनोट ५।

[3] उस विधि के विपरीत जिसमें गुणक को एक-एक स्थान दाहिनी या बायीं ओर हटाते हैं।

करने पर पंक्ति मे रखी हुई संख्या गुणनफल होती है।"[1] यह विधि ८वी शताब्दी अथवा उसके पूर्व के हिन्दू गणितज्ञो को ज्ञात थी। यह विधि अरब पहुँची और वहाँ से इसका यूरोप मे प्रवेश कराया गया, जहाँ पर पैसिओली के सूमा[2] नामक ग्रन्थ मे इसका उल्लेख मिलता है। पैसिओली का कहना है कि यह विधि "अन्य विधियो की अपेक्षा अधिक कौतुक एव चातुर्य से पूर्ण है।" गणेश ने भी लिखा है कि "यह (विधि) अत्यन्त कौतुकपूर्ण है और मन्दबुद्धि विद्यार्थी परम्परागत मौखिक शिक्षा के बिना इसे सीख नही सकता"।

स्थान-खण्ड गुणन

इस विधि मे गुण्य अथवा गुणक के स्थान अलग-अलग करके रखे जाते है। ६२८ ई० के बाद के सभी ग्रथो मे यह विधि मिलती है। भास्कर द्वितीय ने इस विधि[3] का निम्न विवरण दिया है "पृथक् पृथक् स्थानो से गुणा करके सब को एक साथ जोडना चाहिए।"

१३५ को १२ से गुणा करने का उदाहरण लेकर भास्कर द्वितीय ने इस विधि को निम्न प्रकार से समझाया है

"गुणक के स्थानो से, अर्थात् १ और २ से, गुण्य को अलग-अलग गुणा करने पर तथा प्राप्त गुणनफलो को स्थान के क्रम मे जोडने पर १६२० गुणनफल मिलता है।"

इस विधि के अनुसार गुणा करने मे अंकस्थापन मे कई क्रमो का उपयोग किया गया है। उनमे से कुछ निम्नलिखित है

(१)[4]

```
  १३५
 १२
------
 १२
  ३६
   ६०
------
 १६२०
```

[1] लीलावती, (१, ४-६) पर गणेश की टीका देखिए।
[2] स्मिथ (पूर्वोक्त ग्रंथ भाग २, पृ० ११२) ने इस ग्रंथ को उद्धृत किया है।
[3] लीलावती, पृ० ३।
[4] टेलर द्वारा प्रयोग की हुई हस्तलिपि। टेलर की लीलावती, पृ० ८-९, देखिए।

(२)[1]

```
        १२ १२ १२
         १  ३  ५
        ---------
         १२६०
          ३६
       ---------
         १६२०
```

(३)[2]

```
        १३५  १३५
          १   २
        ---------
          २७०
         १३५
        ---------
         १६२०
```

गोमूत्रिका[3] विधि

इस विधि का वर्णन ब्रह्मगुप्त के ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त मे मिलता है। विशेषताओ मे यह स्थान-खण्ड गुणन के सदृश ही है। इसका एक उदाहरण ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त पर पृथूदक स्वामी कृत टीका मे मिलता है, जो इस प्रकार है

उदाहरण। १२२३ को २३५ से गुणा करना।

इन सख्याओ को पहले निम्न प्रकार से लिखते है—

```
२        १ २ २ ३
३          १ २ २ ३
५            १ २ २ ३
```

उसके बाद २, ३ और ५ से सामनेवाले अको को गुणा करते है और प्राप्त गुणनफलो को आधुनिक रीति से जोड लेते है,

```
  २ ४ ४ ६
    ३ ६ ६ ९
      ६ १ १ ५
  -----------
  २ ८ ७ ४ ० ५
```

प्राप्त योग, अर्थात् २८७४०५, ही इष्ट गुणनफल है।

[1] इस प्रकार की गणना एशियाटिक सोसायटी ऑव बगाल, कलकत्ता, की लाइब्रेरी में सगृहीत गगाधर की लीलावती-टीका में मिलती है।

[2] इस प्रकार की गणना भी गगाधर की लीलावती-टीका में उपलब्ध है।

[3] गोमूत्रिका शब्द का अर्थ है "गाय के मूत्र करने की भाँति" अर्थात् "टेढी-मेढी"। कोलब्रुक का पाठ 'गोसूत्रिका' अशुद्ध है। पडित लोग आज तक ज्योतिष सबन्धी सख्याओ के गुणन करने की विधि को गोमूत्रिका कहते है।

स्थान-खंड और गोमूत्रिका विधियाँ गुणन की आधुनिक विधि से बहुत अधिक मिलती-जुलती हैं। स्थान-खंड का प्रयोग कागज पर गणना करने मे होता था।

**रूप-खंड गुणन**

यह विधि ६२८ ई० के बाद के सब ग्रथो मे मिलती है। इस विधि के दो भेद है

(१) गुणक के दो या अधिक ऐसे भाग करते है जिनका जोड गुणक के तुल्य होता है। इसके अनन्तर गुण्य को उन भागो से अलग-अलग गुणा करके उन गुणनफलो को जोड लेते है।

(२) गुणक को दो या दो से अधिक गुणनखडो मे विभक्त करते है। उसके बाद गुण्य को एक-एक करके उन गुणनखडो से गुणा करते है। अन्तिम गुणनफल इष्ट गुणनफल होता है।

ये प्रकार अरबो और इटैलियनो के ग्रथो मे मिलते है। इन लोगो ने इन्हे हिन्दुओ से सीखा था। इटैलियन लोग इन प्रकारो को क्रमानुसार "स्कैपेजो" और "रेपीगो" कहते है।

**बीजीय विधि**

इस विधि का नाम इष्ट-गुणन है। ब्रह्मगुप्त ने इस विधि का जो विवरण दिया है उसका उल्लेख किया जा चुका है। भास्कर द्वितीय का विवरण निम्न-लिखित है

"गुणक मे इष्ट सख्या को घटाकर अथवा जोडकर, शेष अथवा योगफल को (गुण्य से) गुणा करो, और इष्ट सख्या तथा गुण्य के गुणनफल को (क्रम से) उसमे जोड अथवा घटा दो।"[1]

यह विधि दो प्रकार की है पहला प्रकार वह है जिसमे गुणक मे इष्ट सख्या जोडी जाती है, दूसरा वह जिसमे गुणक मे इष्ट सख्या घटायी जाती है। इष्ट सख्या इस प्रकार ली जाती है कि प्राप्त होनेवाली सख्या से गुण्य को गुणा करने मे सरलता हो। दोनो प्रकारो की गुणन-विधियो का स्पष्टीकरण नीचे के उदाहरणो द्वारा किया गया है

[1] लीलावती, पृ० २।

(१) १३५×१२=१३५×(१२+८)−१३५×८
=२७००−१०८०
=१६२०

(२) १३५×१२=१३५×(१२−२)+१३५×२
=१३५०+२७०
=१६२०

इस विधि का प्रयोग अरबों[1] और यूरोपवासियों[2] मे मिलता है, जिसका कारण स्पष्टत भारतीय प्रभाव था।

## ५ भाग

**परिभाषा**

प्रतीत होता है कि भाग को गुणन की उलटी क्रिया मानते थे। इस परिकर्म के हिन्दू नाम भागहार, भाजन, हरण, छेदन, इत्यादि है। इन सब शब्दो का शाब्दिक अर्थ, 'टुकडे करना' अर्थात् 'भाग करना है', केवल हरण शब्द का अर्थ 'ले लेना' है। इस शब्द से प्रदर्शित होता है कि भाग का घटाने मे सम्बन्ध है। जिस सख्या का भाग किया जाता है उसे भाज्य, हार्य, इत्यादि कहते है। जिससे भाग किया जाता है उसे भाजक, भागहार या केवल हर कहते है, और भाग करने से जो सख्या प्राप्त होती है उसे लब्धि या लब्ध कहते है।

**करण**

१५वी और १६ वी शताब्दी तक यूरोप के विद्वान भाग के परिकर्म को कठिन और जटिल समझते रहे है,[3] परन्तु भारतवर्ष मे भाग करने की अत्यन्त सतोषजनक विधि बहुत पहले से ही ज्ञात होने के कारण वह कठिन नही माना जाता था। वस्तुत किसी भी हिन्दू गणितज्ञ ने इस परिकर्म को विशेष महत्त्व नही दिया है।

[1] उदाहरणत, बेहाउद्दीन (ल० १६०० ई०)। देखिए जी० इनेस्त्राम, बिब्लियोथेका मैथेमेटिका, ७(३), पृ० ९५।

[2] उदाहरणत, विडमैन (१४८९ ई०), रीज (१५२२ ई०), इत्यादि। देखिए स्मिथ, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० १२०।

[3] स्मिथ, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० १३२।

आर्यभट प्रथम ने तो अपने ग्रथ मे भाग करने की विधि का उल्लेख भी नही किया है। परन्तु चूंकि उसने वर्गमूल और घनमूल निकालने की आधुनिक विधियो का, जो भाग करने की विधि पर ही निर्भर है,[1] वर्णन किया है, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भाग करने की विधि उस समय सर्वविदित थी और अत्यन्त साधारण होने के कारण ही आर्यभट ने अपनी आर्यभटीय मे उसका वर्णन नही किया है। ब्रह्मगुप्त, श्रीपति, इत्यादि बहुत से परवर्ती लेखको ने भी आर्यभट का ही अनुकरण करके अपने ग्रथो मे भाग की विधि का वर्णन नही किया है।

भाग की आधुनिक विधि के प्रचार मे आने के पूर्व, भाग करने मे कदाचित् सदृशापवर्तन[2] की विधि का प्रयोग किया जाता रहा हो, क्योकि सदृशापवर्तन की विधि के उल्लेख आदिम जैन-ग्रथो मे मिलते है।[3] इस विधि का उल्लेख आधुनिक विधि के ज्ञाता महावीर ने भी किया है, सभवत इसलिए कि कुछ अवस्थाओ मे यह विधि अधिक उपयुक्त थी

"भाज्य को और उसके नीचे भाजक को रखने के अनन्तर सदृशापवर्तन की विधि के अनुसार भाग देकर लब्धि बताना चाहिए।"[4]

बक्षाली हस्तलिपि मे अनेक स्थानो पर भाग के परिकर्म का नाम मिलता है परन्तु भाग की आधुनिक विधि का वर्णन नही है। हो सकता है कि यह अभाव उस प्रति के खडित होने के कारण है, यद्यपि यह भी सभव है कि उस समय (३०० ई०) भाग की विधि ज्ञात न रही हो।

### भाग की विधि

भाग की आधुनिक विधि का वर्णन सबसे पहले श्रीधर की त्रिशतिका मे मिलता है जो इस प्रकार है[5]

"भाज्य और भाजक को तुल्य राशि से अपवर्तन करने के अनन्तर, भाज्य को

[1] उसने परिभाषिक शब्द 'लब्ध' का भी उसी अर्थ में प्रयोग किया है।

[2] दो या दो से अधिक सख्याओ को उनके महत्तम समापवर्तक से भाग देने को सदृशापवर्तन कहते है।

[3] तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, उमास्वाति (ल० १६० ई०) कृत भाष्य, एच० आर० कापदीया द्वारा सपादित, बम्बई, १९२६, भाग २, अध्याय २, श्लोक ५२, पृ० २२५।

[4] गणित सार-सग्रह पृ० ११, यदि भाज्य भाजक से पूरा-पूरा विभक्त नहीं होगा, तो इस विधि से लब्धि नही प्राप्त होगी।

[5] त्रिशतिका, पृ० ४।

(एक-एक अक करके) क्रम से विलोम विधि के अनुसार भाग देना चाहिए।"

महावीर का वर्णन इस प्रकार है[1]

"सदृशापवर्तन विधि के अनुसार (भाज्य और भाजक का) अपवर्तन करने के बाद जो (भाज्य और भाजक) शेष बचे उनमे से भाज्य को नीचे लिख कर भाजक से प्रतिलोम विधि के अनुसार भाग देना चाहिए।"

आर्यभट द्वितीय ने भाग की विधि का और भी अधिक विवरण दिया है[2]

"भाज्य के नीचे बायी ओर भाजक को रखकर, भाज्य मे से भाजक का जितने गुना घट सके घटाओ, इस प्रकार जितने गुना भाजक घट जाय, वह आंशिक लब्धि हुई। इसके बाद भाजक को एक स्थान हटाकर रखो और उससे शेष (भाज्य) को (पूर्ववत्) भाग दो। जब तक भाज्य भाजक से कम न हो जाय, ऐसा ही करते जाओ।"[2]

निम्नलिखित उदाहरण से समझ मे आ जायगा कि हिन्दू लोग पाटी पर किस प्रकार भाग करते थे।

**उदाहरण**। १६२० को १२ से भाग करना।

भाज्य के नीचे भाजक को इस प्रकार रखते है।

१६२०
१२

भाग की क्रिया भाज्य के बिलकुल बायी ओर के अंको से, यहाँ पर १६ से, आरम्भ होती है। इस १६ को १२ से भाग देते है। लब्धि १ को अलग एक पंक्ति मे रखते है, और १६ को मिटाकर उसके स्थान मे शेष ४ को रखते है। भाजक और लब्धि के गुणनफल को भाज्य मे घटाने की क्रिया इस प्रकार करते है। १×१=१, १ – १=०, इसलिए भाज्य के १ को मिटा देते है, इसके बाद १×२=२, ६ – २=४, अतएव भाज्य के ६ को मिटाकर उसके स्थान मे ४ रखते है। इस प्रकार पाटी पर निम्न संख्याएँ होती है

[1] गणित-सार-संग्रह, पृ० ११, रंगाचार्य का अनुवाद देखिए।
[2] महासिद्धान्त, पृ० १४४।

| | |
|---|---|
| ४२० | १ |
| १२ | लब्धि की पक्ति |

भाजक को अब एक स्थान दाहिनी ओर हटाते है

| | |
|---|---|
| ४२० | १ |
| १२ | लब्धि की पक्ति |

अब ४२ को १२ से भाग देते हैं। लब्धि ३ को पक्ति मे रखते है और ४२ को मिटाकर उसके स्थान मे शेष ६ को रखते है। इस प्रकार पाटी पर निम्नलिखित सख्याएँ होती है

| | |
|---|---|
| ६० | १३ |
| १२ | लब्धि की पक्ति |

भाजक को पुन एक स्थान दाहिनी ओर हटाते है

| | |
|---|---|
| ६० | १३ |
| १२ | लब्धि की पक्ति |

अब ६० को १२ मे भाग देते है और प्राप्त लब्धि ५ को पक्ति मे रखते है, शेष शून्य होने के कारण भाज्य ६० और भाजक १२ दोनो को मिटा देते है। इस प्रकार लब्धि की पक्ति[1] मे १३५ हो जाता है

| |
|---|
| १३५ |
| लब्धि की पक्ति |

यही इष्ट लब्धि है।

उपर्युक्त विधि में यदि भाज्य के अक मिटाये न जायें और क्रमानुसार प्राप्त होने वाले अक एक के नीचे एक करके रखे जायें तो वह भाग करने की आधुनिक विधि का स्वरूप ग्रहण कर लेगी।

उपर्युक्त विधि का आविष्कार सम्भवत चौथी शताब्दी मे (अथवा और पहले) भारतवर्ष मे हुआ था। भारतवर्ष से यह अरबो को प्राप्त हुई और नवी शताब्दी के बाद के अरबी ग्रथो मे इसका वर्णन मिलता है।[2] अरब से यह विधि यूरोप को

[1]लब्धि की पक्ति प्राय भाज्य के ऊपर लिखी जाती थी।

[2]अल-ख्वारिज्मी (ल० ८२५ ई०), अल-नसवी (ल० १०२५ ई०), देखिए स्मिथ, पूर्वोक्त ग्रथ पृ० १३८-१३९।

पहुँची, यहाँ पर यह गैली (गैलिया या बटैलो) विधि के नाम से विख्यात हुई।[1] गैली विधि कागज पर की जाती थी, अतएव अंकों को मिटाने के स्थान में उन्हें काट देते थे। १५वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक यह विधि यूरोप में अत्यधिक प्रचलित थी।[2] उपर्युक्त उदाहरण गैली विधि के अनुसार निम्न प्रकार से किया जायगा।

| | | |
|---|---|---|
| | ४ | |
| १ | ~~१~~~~६~~२० | १ |
| | ~~१~~~~२~~२ | |
| | १ | |
| २ | ~~४~~ | |
| | ~~४~~६ | |
| | ~~१~~~~६~~२० | १३ |
| | ~~१~~~~२~~~~२~~२ | |
| | ~~२~~१ | |
| ३ | ~~१~~~~४~~ | |
| | ~~४~~~~६~~ | |
| | ~~१~~~~६~~~~२~~~~०~~ | १३५ |
| | ~~१~~~~२~~~~२~~~~२~~ | |
| | ~~१~~ | |

(१), (२) और (३) मे अंकों को एक के बाद एक करके काटने की क्रिया की हिन्दू विधि की अंकों को मिटाने की क्रिया के साथ तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि गैली विधि वस्तुत वही है जो हिन्दू विधि। हिन्दू विधि के अनुसार अंकों को मिटाने की अपेक्षा अंकों को काटना अधिक कष्टदायक प्रतीत होता है।

ज्यों-ज्यों लब्धि के अंक निकलते जाते थे, त्यों त्यों भाजक को एक स्थान दाहिनी ओर हटाने की हिन्दू विधि, यद्यपि अनिवार्य नहीं थी, अरबों द्वारा ग्रहण की गयी और वह अल-ख्वारिज्मी (८२५ ई०), अल-नसवी (ल० १०२५ ई०) जैसे प्रख्यात लेखकों के ग्रंथों में मिलती है। मध्यकालीन लेटिन लेखकों ने इस लक्षण-विशेष को ऐनटीरियोरेशियो नाम प्रदान किया है।

[1] इसे 'स्क्रैच विधि' भी कहते थे।
[2] विस्तृत विवरण के लिए, देखिए स्मिथ, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० १३६-१३९।

# ८ वर्ग

## परिभाषा

वर्ग शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'पंक्ति' अथवा 'समुदाय'। परन्तु गणित मे इसका अर्थ 'वर्गघात' तथा 'वर्गक्षेत्र' अथवा उसका क्षेत्रफल होता है। इस प्रकार आर्यभट प्रथम लिखते है

"समचतुरस्र'[1] (अर्थात् वर्गाकार क्षेत्र) और उसका क्षेत्रफल वर्ग कहलाता है। दो समान सख्याओ का गुणन भी वर्ग है।"[2]

वर्ग शब्द का प्रयोग इस अर्थ मे क्यों किया गया इस बात की ओर थीबो ने स्पष्ट सकेत किया है। उनका कथन है कि "इस शब्द के उद्गम की खोज स्पष्टत उस वर्ग के चित्रात्मक प्रदर्शन मे करना चाहिए जिसमे उतने वर्ग बने हो जितनी उसकी एक भुजा मे इकाइयाँ हो। इस प्रकार वह वर्ग जिसकी एक भुजा ५ पद की है, ५ ऐसे (आयत) कोष्ठो मे विभक्त किया जा सकता है जिनमे से प्रत्येक मे १ पद भुजावाले ५ छोटे-छोटे वर्ग होगे।"[3] वर्ग शब्द की उत्पत्ति के इस स्पष्टीकरण को शुल्व ग्रथो के कुछ अवतरणो मे समर्थन मिलता है।[4]

वर्ग के अर्थ मे कृति शब्द का भी प्रयोग किया गया है। कृति का अर्थ है 'करना' 'बनाना', अथवा 'कर्म'। यह शब्द 'कार्य-विशेष' सभवत 'चित्रीय प्रदर्शन' का भाव वहन करता है।

वर्ग और कृति दोनो ही शब्द गणित के ग्रथो म मिलते है, परन्तु वर्ग शब्द की प्रचुरता है। परवर्ती लेखको ने, इन शब्दो की परिभाषा करते समय, इसके अर्थ को सीमित कर दिया है। उदाहरणत श्रीधर का कथन है[5]

"दो समान सख्याओ का गुणनफल वर्ग है।"

[1] टीकाकार परमेश्वर का कथन है "चार भुजाओ वाला वह क्षेत्र जिसकी भुजाएँ बराबर हो तथा जिसके दोनो कर्ण भी बराबर हो समचतुरस्र कहलाता है।"

[2] आर्यभटीय, गणितपाद, श्लो० ३।

[3] थीबो, शुल्व सूत्रज पृ० ४८।

[4] आपस्तम्ब शुल्व, ३ ७, कात्यायन शुल्व ३ ६, देखिए बी० दत्त, अमेरिकन मैथेमेटिकल्मथली, जिल्द ३३, १६३१, पृ० ३७५।

[5] त्रिशतिका पृ० ५।

पृथूदक स्वामी[1], महावीर[2], एव अन्य लेखको ने भी वर्ग की ऐसी ही परिभाषाएँ की है।

करण

वर्ग का परिकर्म के रूप मे मिलना हिन्दू-गणित की एक विशेषता है। तथापि वर्गीकरण की विधि साधारण गुणन की विधि की अपेक्षा सरल नही है। हिन्दू लेखको ने इस परिकर्म को सभवत इसलिए महत्त्व दिया कि वर्गमूल की विधि वर्ग की विधि की ठीक उलटी थी। यद्यपि वर्गीकरण की विधि पहले पहल ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त मे मिलती है, तो भी इसमे सदेह नही कि यह विधि आर्यभट प्रथम को ज्ञात थी क्योकि उन्होने वर्गमूल की विधि का वर्णन किया है।

ब्रह्मगुप्त ने इस विधि[3] का वर्णन अत्यन्त सक्षेप मे किया है

"ऊन[4] स्थानवाले अक के दूने को अगले स्थानवाले अको मे गुणा करने पर जो आवे उसे ऊन स्थानवाले अक के वर्ग के साथ (यथास्थान बार बार) जोडने से वर्ग प्राप्त होता है।"

श्रीधर का वर्णन अधिक स्पष्ट है[5]

"अन्तिम अक का वर्ग करके, अन्तिम अक के दूने को शेप अको से गुणा करो। उन शेप अको को एक स्थान दाहिनी ओर हटाओ और पुन वही क्रिया करो। वर्ग निकालने के लिए इसी प्रकार शेप को एक-एक स्थान हटा-हटा कर उपर्युक्त क्रिया करनी चाहिए।"

[1]देखिए कोलब्रुक, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० २७९।

[2]गणित-सार सग्रह, पृ० १२।

[3]इस विधि की चर्चा गणिताध्याय में नहीं की गयी है, परन्तु परिशिष्ट के रूप में इसका वर्णन किया गया है (देखिए ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० २१२)। कदाचित् इस विधि की ओर ब्रह्मगुप्त का ध्यान बाद में गया हो।

[4]कोलब्रुक ने 'राशेरूनम्' का अनुवाद "कम भाग (दि लेस पोर्शन)" किया है, जो अशुद्ध है। उनका कथन है कि "पाठ अस्पष्ट है" (पृ० ३२२, फुटनोट ६), क्योकि उनके अनुवाद के अनुसार उक्त नियम का कोई अर्थ नहीं लगता। वस्तुत राशेरूनम् को "ऊनतम स्थान वाला अक" से अनुवाद करना चाहिए। उक्त विवेचन से द्विवेदी सहमत है (पृ० २१२)। यहाँ पर बतलायी गयी विधि 'वर्ग निकालने की अनुलोम विधि है'।

[5]त्रिशतिका, पृ० ५। के और रामानुजाचार्य का अनुवाद अशुद्ध है।

महावीर[1] ने इस विधि का अधिक विवरण दिया है

"अन्तिम स्थानवाले अक का वर्ग करके, अन्तिम स्थानवाले अक को एक स्थान (दाहिनी ओर) हटाकर उसके दूने को शेष अकों से गुणा करो। इसके बाद शेष अको को एक स्थान (दाहिनी ओर) हटाकर वही क्रिया बार-बार करो। इस प्रकार (इष्ट सख्या का) वर्ग प्राप्त होगा।"

भास्कर द्वितीय[2] ने इस प्रकार लिखा है

"अन्तिम स्थानवाले अक के वर्ग को अपने स्थान के ऊपर लिखो, अन्य अको को अन्तिम स्थानवाले अक के दूने से गुणा करो, और प्राप्त गुणनफलो को क्रमश अपने-अपने स्थानो के ऊपर लिखो। अब अन्तिम अक को मिटा दो और शेष अको को एक स्थान (दाहिनी ओर) हटाकर रखो और पुन वही क्रिया करो।"

भास्कर ने लिखा है कि उपर्युक्त क्रिया इकाई से भी आरभ की जा सकती है।[3]

श्रीधर, महावीर, और भास्कर द्वितीय इत्यादि के अनुसार अन्तिम स्थान से आरभ करके उक्त क्रिया को पाटी पर करने की निम्नलिखित विधि है -

उदाहरण। १२५ का वर्ग निकालना।

पहले सख्या को लिखते हैं

१२५

अन्तिम अक १ है। इसके वर्ग को अन्तिम स्थान के ऊपर लिखते है

१
१२५

इसके बाद अन्तिम अक का दूना $१ \times २ = २$, इसे शेष अको के नीचे (अनुलोम विधि मे २ के नीचे और विलोम विधि मे ५ के नीचे) लिखते है, और अन्तिम अक १ को मिटा देते हैं। इस प्रकार पाटी पर निम्न सख्याए होती है

१
२५
२

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० १३।
[2] लीलावती, पृ० ४।
[3] लीलावती, पृ० ४।

नीचे के अक २ से शेष अको को गुणा करके गुणनफलो को अपने-अपने स्थान के ऊपर लिखते हैं।

१५०
२५

इसके बाद शेष अको को एक स्थान दाहिनी ओर हटाते हैं।

१५०
२५

इसके बाद उपर्युक्त विधि की पुनरावृत्ति करते हैं। पहले अन्तिम अक २ के वर्ग को उस स्थान के ऊपर लिखते हैं

१५४
।२५

इसके बाद अन्तिम अक के दूने मे (अर्थात् २×२=४) को शेष अक के नीचे रखकर, २ को मिटा देते हैं।

१५४
५
४

गुणा करने पर, ४×५=२०, और गुणनफल को सगत अक ५ के ऊपर रखने पर (अर्थात् ० को ५ के ऊपर रखने पर और २ को बायी ओर के ४ मे जोडने पर), पाटी पर निम्नलिखित सख्याएँ होती हैं

१५६०
५

५ को पुन एक स्थान दाहिनी ओर हटा कर रखते हैं।

१५६०
५

५ का वर्ग करने पर २५ मिलता है। इसे ५ के ऊपर रखते हैं (अर्थात् ५ को ५ के ऊपर और २ को उसके बायी ओर रखते हैं)।

१५६२५
५

क्रिया की समाप्ति हो जाने के कारण नीचे के ५ को मिटा देते हैं। इस प्रकार पाटी पर निम्न सख्या होती है

१५६२५

यही १२५ का वर्ग है।

ब्रह्मगुप्त और भास्कर द्वितीय के अनुसार यह क्रिया आदिस्थान (अर्थात् इकाई) से भी आरभ की जा सकती है। ब्रह्मगुप्त ने निम्नलिखित विधि की ओर सकेत किया है

**उदाहरण**। १२५ का वर्ग करना।

पहले सख्या लिखी जाती है

१ २ ५

आदि स्थान के अक के वर्ग (अर्थात् ५²=२५) को आदि स्थान के ऊपर लिखते है

  २ ५
१ २ ५

इसके बाद २×५=१० को अन्य अको के नीचे रखते हैं, और ५ को मिटा देते हैं

  २ ५
१ २
१ ०

१० मे शेष अको, अर्थात् १२, को गुणा कर गुणनफल को उन अको के ऊपर लिखते है

१ २ २ ५
  १ २
  १ ०

इसके बाद १२ को एक स्थान बायी ओर हटाकर, १० को मिटा देते है

१ २ २ ५
१ २

इसके बाद उसी क्रिया की पुनरावृत्ति करते है। अर्थात् पहले २ के वर्ग ४ को उसके ऊपरवाले अक मे जोडते है, और २×२=४ को १ के नीचे लिखते है तथा २ को मिटा देते है

१ ६ २ ५
१
४

शेष अक १ को ४ से गुणा कर गुणनफल ४ को १ के ऊपरवाले अक मे जोड देते है और ४ को मिटा देते है

५ ६ २ ५
१

शेप अक १ को पुन एक स्थान बायीं ओर हटाते हैं

५ ६ २ ५
१

इसके बाद पूर्व क्रिया की पुनरावृत्ति करते है। अर्थात् १ के वर्ग को उसके ऊपर लिखते है, और अक न होने से क्रिया ममाप्त हो जाती है। पाटी पर निम्न-सख्या बचती है

१ ५ ६ २ ५

जो इष्ट वर्ग है।

**वर्ग करने की गौण विधियाँ**

सभी हिन्दू गणितज्ञो ने

(१) $न^2 = (न - क)(न + क) + क^2$

की चर्चा की है और बतलाया है कि कभी-कभी इसकी महायता से वर्ग निकालने मे सुविधा होती है।

उदाहरणत,

$$१५^2 = १० \times २० + २५$$
$$= २२५$$

ब्रह्मगुप्त का कथन है

"दी हुई सख्या में कोई कल्पित सख्या जोड दो, पुन॰ दी हुई सख्या मे कल्पित सख्या घटा दो, दोनो को गुणा करो, और गुणनफल मे कल्पित सख्या का वर्ग जोड दो। इस प्रकार दी हुई सख्या का वर्ग प्राप्त होता है।"[१]

श्रीधर ने इस प्रकार लिखा है

"जिस सख्या का वर्ग निकालना हो उसमे एक बार कोई कल्पित सख्या जोड दो और एक बार वही सख्या घटा दो। जो सख्याएँ इस प्रकार प्राप्त हो उनके गुणनफल मे कल्पित सख्या का वर्ग जोड दो। इस प्रकार जो सख्या प्राप्त होगी वही वर्ग है।"[२]

[१] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, अध्याय १२, श्लोक ६३ (उत्तरार्ध)।

[२] त्रिशतिका, पृ० ५।

महावीर, भास्कर द्वितीय, नारायण, तथा अन्य लेखको ने भी उपर्युक्त सर्वसमिका दी है।

सूत्र

(२) $(क+ख)^{२} = क^{२}+ख^{२}+२ क ख$

अथवा इसके व्यापक स्वरूप

$(क+ख+ग+\quad)^{२} = क^{२}+ख^{२}+ग^{२}+\quad २ क ख+\ldots$

की चर्चा वर्ग निकालने के प्रकारान्तर के रूप मे की गयी है। उदाहरणत, महावीर[1] का कथन है

"दो या दो से अधिक स्थान[2] वाली सख्याओ का वर्ग निकालने के लिए (भिन्न-भिन्न स्थानो मे स्थित) सब (अको) का (अलग-अलग) वर्ग करो, फिर उन अको को एक दूसरे मे गुणा कर के प्रत्येक को दूना करो, और सबको (जोड कर) एक मे मिला दो, इस प्रकार से प्राप्त सख्या ही इष्ट वर्ग है।"

भास्कर द्वितीय[3] लिखते है

"दोनो (स्थान) खडो के गुणनफल का दूना करो और उसमे दोनो खडो के वर्गो के योग को जोड दो, इस प्रकार से भी वर्ग की प्राप्ति होगी।"

श्रीधर और महावीर ने निम्नलिखित सूत्र की चर्चा की है

(३) $न^{२} = १+३+५+\quad$ न पदो तक।

श्रीधर[4] लिखते है

"१ आदि और २ चय वाली श्रेढी का योग भी वर्ग के तुल्य होता है।"

महावीर का कथन अधिक स्पष्ट है

"१ आदि और २ चय वाली श्रेढी के इष्ट सख्या तुल्य पदो का योग (इष्ट सख्या के) वर्ग के तुल्य होता है।"[5]

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० १३।
[2] स्थान शब्द से इकाई, दहाई, इत्यादि अक-स्थानो से तात्पर्य है।
[3] लीलावती, पृ० ४।
[4] त्रिशतिका, पृ० ५।
[5] गणित-सार-सग्रह, पृ० १२।

नारायण[1] ने भी उपर्युक्त श्रेढी का उल्लेख किया है। उन्होंने न सख्या का वर्ग ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित सूत्र[2] भी दिया है

न$^{2}$ = (क + ख)$^{2}$ = (क − ख)$^{2}$ + ४ क ख, जहाँ पर क + ख = न।

ध्यान देने योग्य है कि वर्ग करने की उपर्युक्त विधियाँ केवल पूर्णांको के लिए है। भिन्नो का वर्ग करने की विधियाँ भिन्नो के प्रकरण मे बतायी जायेगी।

## ७ घन

### परिभाषा

घन शब्द गणित के सब ग्रथो मे मिलता है। इसका प्रयोग ज्यामितीय और गणितीय दोनो अर्थों में, अर्थात् ठोस घन तथा तीन समान सख्याओ के गुणनफल को सूचित करने मे, किया गया है। आर्यभट प्रथम लिखते है

"तीन समान सख्याओ का गुणनफल तथा बारह बराबर कोणो (और भुजाओ) वाला ठोस भी घन है।"[3]

श्रीधर[4], महावीर[5], और भास्कर द्वितीय[6], प्रत्येक का कथन है कि

'तीन समान सख्याओ का गुणनफल घन है।'

घन के अर्थ मे बृन्द शब्द का भी प्रयोग मिलता है परन्तु बहुत कम।

### करण

दशमलव स्थान-मान सिद्धान्त के अनुसार लिखी हुई सख्याओ का घन निकालने की विधि का प्रयोग भारतवर्ष मे पाँचवी शताब्दी के पहले मे हुआ है। यह विधि आर्यभट प्रथम को ज्ञात थी, परन्तु उन्होने इसे उतना महत्त्व नही दिया जितना घनमूल निकालने की प्रतिलोम विधि को, जिसका उन्होने वर्णन किया है।

ब्रह्मगुप्त ने घन निकालने की विधि का निम्नलिखित शब्दो मे वर्णन किया है

[1] गणित कौमुदी, अध्याय १, श्लोक १७-१८।

[2] उनका कथन है: "दो सख्याओ के अन्तर के वर्ग को उन सख्याओ के गुणनफल के चौगुने में जोड दो, (तो उन दो सख्याओ के योग का वर्ग प्राप्त होगा)।"

[3] आर्यभटीय, गणित-पाद, श्लोक ३।

[4] त्रिशतिका, पृ० ६।

[5] गणित-सार-सग्रह, पृ० १४।

[6] लीलावती, पृ० ५।

"अन्त्य (अर्थात् अन्तिम स्थानवाले अक) का घन लिखो।[1] (उसके एक स्थान आगे अर्थात् दाहिनी ओर) अन्त्य के वर्ग को उत्तर (अर्थात् उपान्तिम अक) के तिगुने मे गुणा करके जो आवे वह लिखो, (उसके एक स्थान आगे) उत्तर के वर्ग को अन्त्य के तिगुने मे गुणा करके जो आवे वह लिखो, और (उसके एक स्थान आगे) उत्तर का घन लिखो। इस प्रकार (अन्त्य और उत्तर दो अको से बनी हुई सख्या का) घन प्राप्त होता है।"

श्रीधर का वर्णन निम्न प्रकार है[2]

"अन्त्य (अर्थात् अतिम अक) का घन लिखो, एक स्थान आगे, अन्त्य के वर्ग को त्रिगुणित आद्य[3] (अर्थात् उपान्तिम अक) से गुणा करके जो आवे वह लिखो, (इसके एक स्थान आगे) आद्य के वर्ग को अन्त्य से और तीन से गुणा करके जो आवे वह लिखो, और (इसके एक स्थान आगे) आद्य का घन भी लिखो। इस प्रकार से प्राप्त होने वाली सख्या (अन्त्य और आद्य दो अको से बनी हुई सख्या का) घन है।"

महावीर का कथन है[4]

"अन्त्य का घन लिखो, फिर एक स्थान हट कर, अन्त्य के वर्ग को ३ से और शेष (अर्थात् उपान्तिम अक) से गुणा करके जो आवे उसे लिखो, उसके

[1] टीकाकार पृथूदकस्वामी के अनुसार 'अन्त्य' का अर्थ 'बायीं ओर का अन्तिम अक' है। इस प्रकार 'उत्तर' का अर्थ 'अन्त्य' के दाहिनी ओरवाला अक है। जिस सख्या का घन करना होता है उसको टुकडो में विभक्त कर लेते हैं और बतलायी हुई विधि के अनुसार एक-एक करके उनका घन निकालते है। (आगे का उदाहरण देखिए)। यदि 'अन्त्य' का अर्थ 'दाहिनी ओरवाला अन्तिम अक' लिया जाय, तो भी कोई अन्तर न पडेगा। परन्तु उस अवस्था में 'उत्तर' का अर्थ 'अन्त्य' अक के बायीं ओरवाला अक लेना पडेगा।

[2] त्रिशतिका, पृ० ६।

[3] इस स्थान पर श्रीधर ने इसके लिए 'पूर्व' शब्द का भी प्रयोग किया है। जिसे ब्रह्मगुप्त ने 'उत्तर' कहा है, वही श्रीधर का 'आद्य' अथवा 'पूर्व' है।

[4] गणित-सार-सग्रह, पृ० १५, श्लोक ४७। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस नियम मे 'शेष के घन को जोडने' की बात नहीं कही गयी है। परन्तु इसके पहलेवाले श्लोक में इस क्रिया का विधान कर दिया गया है, अतएव इसे भी करना चाहिए।

फिर एक स्थान हट कर शेष के वर्ग को त्रिगुणित अन्त्य से गुणा करके जो आवे उसे लिखो, यही (घन करने की) विधि है।"

भास्कर द्वितीय का वर्णन अधिक स्पष्ट है,[१]

"अन्त्य का घन लिखो, फिर अन्त्य के वर्ग को त्रिगुणित आदि मे गुणा करके लिखो, फिर आदि के वर्ग को त्रिगुणित अन्त्य मे गुणा करके लिखो, और फिर आदि के घन को लिखो। इसको क्रम से एक-एक स्थान हटा कर लिखो[२] और जोड लो। इस प्रकार (अन्त्य और आदि दो अको मे बनी सख्या का) घन प्राप्त होगा। अब (अन्त्य और आदि सज्ञक) खडयुगो (मे बनी हुई सख्या) को अन्त्य मान लो, और उपर्युक्त विधि का बार-बार (तब तक) प्रयोग करो (जब तक एक भी अक शेष न बचे)। इस प्रकार इष्ट सख्या के घन की सिद्धि होगी। यह विधि आदि (अर्थात् इकाई) के अक से भी आरभ की जा सकती है।"

उपर्युक्त विधि निम्नलिखित उदाहरण की सहायता मे समझ मे आ जायगी।

उदाहरण। १२३४ का घन निकालना।

इस सख्या मे चार स्थान है। अतिम स्थान मे १ है और उपान्तिम स्थान मे २ है। अतएव अन्त्य = १ और आदि = २। इन आदि और अन्त्य से घन की प्रक्रिया निम्नलिखित प्रकार से की जायगी।

(१) अन्त्य का घन (१)$^{३}$ = १

(२) अन्त्य के वर्ग (१)$^{२}$
और त्रिगुणित आदि (३ × २) का
गुणनफल (३ × १$^{२}$ × २) = ६ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

(३) आदि के वर्ग (२$^{२}$), और
त्रिगुणित अन्त्य (३×१) का
गुणनफल (३×१×२$^{२}$) = १२ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

(४) आदि का घन (२$^{३}$) = ८ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

इस प्रकार १२$^{३}$ का मान = १७२८

[१] लीलावती, पृ० ५।

[२] मूल के 'स्थानान्तरत्वेन' शब्द का अनुवाद कोलब्रुक ने 'स्थानो के अनुसार' किया है। यह अनुवाद अशुद्ध है और उस शब्द के भाव को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं करता।

इसके बाद हम आगे के अक ३ को, अर्थात् सख्या १२३ को लेते है। इस सख्या में १२ को अन्त्य और ३ को आदि मानते है। घन की क्रिया यह है

(१) अन्त्य का घन $(१२)^३$ = १७२८

(२) अन्त्य के वर्ग और त्रिगुणित आदि का गुणनफल $(३\times१२^२\times३)$ = १२९६ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

(३) आदि के वर्ग और त्रिगुणित अन्त्य का गुणनफल $(३\times१२\times३^२)$ = ३२४ (एक स्थान हटा कर रखने पर)

(४) आदि का घन $(३^३)$ = २७ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

इस प्रकार $१२३^३$ का मान = १८६०८६७

इसके बाद शेष अक ४ को भी ले लेते है। इस प्रकार सख्या १२३४ हो जाती है। इसमे १२३ को अन्त्य और ४ को आदि कल्पना करते है। घन की क्रिया यह है .

(१) अन्त्य का घन $(१२३^३)$ = १८६०८६७

(२) अन्त्य के वर्ग और त्रिगुणित आदि का गुणन फल $(३\times१२३^२\times४)$ = १८१५४८ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

(३) आदि के वर्ग और त्रिगुणित अन्त्य का गुणनफल $(३\times१२३\times४^२)$ ५९०४ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

(४) आदि का घन $(४^३)$ = ६४ (एक स्थान हटाकर रखने पर)

अतएव $१२३४^३$ का मान = १८७९०८०९०४

अनुलोम विधि भी, जिसमे क्रिया का आरम्भ इकाई मे होता है, इसी प्रकार की जाती है।

**घन निकालने की गौण विधियां**

स्पष्ट है कि सूत्र

(१) $(क+ख)^३ = क^३+३क^२ख+३कख^२+ख^३$

तथा सगत सूत्र

$$(क+ख+ग+\ \ )^3 = क^3 + 3 क^2 (ख+ग+\ \ ) + 3क (ख+ग+\ \ )^2 + (ख+ग+\ \ )^3$$

घन ज्ञात करने की उपर्युक्त हिन्दू विधि मे निहित हैं। महावीर के निम्नलिखित कथन से यह स्पष्ट हो जाता है,[1]

"अन्त्य और अन्य[2] (अर्थात उपान्त्य) स्थानोवाले अको के वर्गों को एक दूसरे मे और पुन ३ मे गुणा करो, इसके बाद उनके योग मे अन्त्य और अन्य के घनो को जोड दो। ऐसा करने पर (अन्त्य और अन्य से बनी हुई सख्या का) घन प्राप्त होगा।"[3]

श्रीपति[4] और भास्कर द्वितीय[5] तथा नारायण[6] ने उक्त सूत्र का कथन निम्नलिखित रूप मे किया है[7]

$$(क+ख)^3 = क^3 + 3कख (क+ख) + ख^3 ।$$

"दी हुई सख्या के तिगुने को उस (सख्या) के दो (गुणन) खडो मे गुणा करके, जो गुणनफल प्राप्त हो उसे उन दो खडो के घनो के योग मे जोड देने पर भी (दी हुई सख्या का) घन प्राप्त होता है।"

महावीर ने सूत्र

$$(२)\ न^3 = न (न+क) (न-क) + क^2 (न-क) + क^3$$

का निम्नलिखित शब्दो मे कथन किया है[8]

"इष्टरहित राशि, इष्टसहित राशि, और (केवल) राशि, इन तीनो के

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० १५।

[2] 'अन्य' का शाब्दिक अर्थ 'दूसरा' होता है। परन्तु यहाँ पर 'अन्य' से तात्पर्य उस अक से है जो अन्त्य (अतिम अक) के दाहिनी ओर लिखा हुआ है।

[3] अर्थात् $(२३४)^3$ की गणना इस प्रकार की गयी है

$$(२००+३०+४)^3 = २००^3 + ३ \times २००^2 (३०+४) + ३ \times २०० (३०+४)^2 + (३०+४)^3 ।$$

और उसी विधि का पुन प्रयोग करने पर $(३०+४)^3$ का मान निकाला गया है।

[4] देखिए अगरेजी अनुवाद, पृ० १७, नोट।

[5] गणित तिलक, २७।

[6] लीलावती, पृ० ५।

[7] गणित-कौमुदी, अध्याय १, श्लोक २३।

[8] गणित सार-सग्रह पृ० १४।

गुणनफल मे, उक्त तीन सख्याओ मे सब से छोटी सख्या और इष्टवर्ग के गुणनफल को तथा इष्ट के घन को जोड देने पर (राशि अर्थात् दी हुई सख्या का) घन प्राप्त होता है।"[1]

श्रेढी-गणित के आधार पर बने हुए न[३] के व्यजक श्रीधर, महावीर, श्रीपति और नारायण ने दिये है। सूत्र

$$(३) \quad न^३ = \sum_{१}^{न} \left\{ ३र(र-१)+१ \right\}$$

को श्रीधर ने निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त किया है[1]

"(किसी दी हुई सख्या का) घन उस श्रेढी के योग के तुल्य होता है जिसके पद, ० आदि और १ चय वाली श्रेढी मे अन्तिम पद को त्रिगुणित उपान्त्य पद मे गुणा करके १ जोड देने मे, बनते है।"

नारायण का कथन है[2]

"एक आदि और एक चय (और इष्ट सख्या तुल्य पद) वाली श्रेढी मे 'अन्तिम पद को त्रिगुणित उपान्त्य पद मे गुणा करके उसमे १ जोड देने से, जो श्रेढी बने उसका योग (इष्ट सख्या का) घन है।"

महावीर ने उपर्युक्त सूत्र को निम्न रूप मे दिया है

$$न^३ = ३ \sum_{२}^{न} र(र-१) + न।$$

वे कहते है[3]

"एक आदि, एक चय और इष्ट सख्या तुल्य पदवाली श्रेढी मे पूर्वपद को आगे के पद से गुणा करो। इस प्रकार गुणा करने से जो श्रेढी बने उसके योग को ३ से

[1] त्रिशतिका, पृ० ६। के और रामानुजाचार्य का अनुवाद (बिब्लियोथेका मैथेमेटिका जिल्द ३, १९१२-१३) अशुद्ध है। इन महानुभावो ने मूल का अर्थ समझने में अपनी असमर्थता प्रकट की है (देखिए पृ० २०९, टिप्पणी)। सुधाकर द्विवेदी (पृ० ६, टिप्पणी ) ने भी इस नियम का अशुद्ध व्याख्या की है। 'सैके', पाठ अशुद्ध है।

[2] गणितकौमुदी, अध्याय १, श्लोक २२।

[3] गणित-सार-सग्रह, अध्याय २, श्लोक ४५।

गुणा करके उसमें (एकादि चय वाली श्रेढी का) अन्तिम पद जोड दो। ऐसा करने से (इष्ट सख्या का) धन प्राप्त होता है।"

महावीर ने निम्नलिखित सूत्रो को

(४) $य^3 = य + ३य + ५य +$ य पदो तक

(५) $य^3 = य^2 + (य-१)\left\{१ + ३ + \quad + (२य-१)\right\}$

निम्न शब्दो में व्यजित किया है[1]

"इष्ट सख्या तुल्य आदि, द्विगुणित इष्ट सख्या तुल्य चय, और इष्ट सख्या तुल्य पदोवाली श्रेढी का योग भी (इष्ट सख्या के घन के तुल्य है)।"

"१ आदि, २ चय और इष्ट सख्या तुल्य पदोवाली श्रेढी के योग को एकोन इष्ट सख्या से गुणा करके इष्ट सख्या के वर्ग मे जोड देने से भी (इष्ट सख्या का घन प्राप्त होता है)।"

## ८. वर्गमूल

### परिभाषा

इस परिकर्म के लिए सस्कृत मे दो शब्द है, मूल और पद। मूल शब्द का सस्कृत साहित्य में प्रचलित अर्थ पेड या पौधे की 'जड' है, अथवा लक्षणा से किसी वस्तु का निम्नतम भाग। इसके अन्य अर्थ 'आधार', 'नीव', 'कारण' और 'उद्‌गम' इत्यादि है। पद शब्द का अर्थ है "पैर का नीचेवाला भाग" (लक्षणा मे किसी वस्तु का निम्न भाग), "भाग", "विभाग", "चरणपाद", "तरफ", "स्थान", "कारण", "शतरज का वर्ग" इत्यादि। दोनो शब्दो मे लगनेवाले अर्थ हैं "अधो-भाग", "किसी वस्तु का निम्नतम भाग", "कारण", अथवा "उद्‌गम"। अतएव बिलकुल स्पष्ट है कि वर्गमूल से हिन्दू लोगो का तात्पर्य 'वर्ग का कारण या उद्‌गम" अर्थात् "वर्ग की एक भुजा" से था। यह ब्रह्मगुप्त के निम्न कथन से अनुमोदित होता है।[2]

"कृति का पद (अर्थात् वर्गमूल) वह है, जिसका वर्ग कृति है।"

वर्गमूल के अर्थ मे प्रयुक्त उपर्युक्त शब्दो मे से सबसे प्राचीन शब्द 'मूल' है।

[1] गणित-सार-सग्रह, अध्याय २, श्लोक ४४।

[2] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, अध्याय १८, श्लोक ३५।

यह शब्द अनुयोगद्वार-सूत्र (ल० १०० ई० पू०) तथा बाद के गणितीय ग्रथो में मिलता है। पद शब्द बाद मे, सभवत ७वी शताब्दी से, प्रयोग मे आया। यह पहले-पहल ब्रह्मगुप्त के ग्रथ मे मिलता है।

मूल शब्द को अरबो ने ग्रहण किया और इसे 'जध्र' (अर्थात् 'वर्ग का आधार') द्वारा अरबी में अनुवाद किया। लेटिन शब्द 'रैडिक्स' भी मूल शब्द का अनुवाद है।[1]

शुल्ब ग्रथो और प्राकृत साहित्य मे वर्गमूल के अर्थ मे 'करणी' शब्द का प्रयोग मिलता है। ज्यामिति मे समकोण त्रिभुज के कर्ण को 'करणी' कहते हैं। बाद के काल में इस शब्द का प्रयोग उन अको के लिए किया गया जिनका पूरा-पूरा वर्ग नही होता था, किन्तु जो रेखा द्वारा व्यक्त किये जा सकते थे।

करण

वर्गमूल निकालने की विधि का वर्णन आर्यभटीय मे अत्यन्त सक्षेप मे निम्न प्रकार मे किया गया है,

"(अन्तिम वर्गस्थान मे से बडी से बडी जो वर्ग सख्या घट जाय उसे घटा दो। इसके बाद) सर्वदा वर्गमूल के दुगुने मे अवर्गस्थान को भाग दो।[2] भाग करने मे प्राप्त लब्धि के वर्ग को (आगे के) वर्गस्थान मे से घटाओ। पृथक् पक्ति मे रखी हुई सख्या वर्गमूल सूचित करती है।"[3]

यह विधि निम्नलिखित उदाहरण मे समझ में आ जायगी।

उदाहरण। ५४७५६ का वर्गमूल निकालना।

[1] विशेष विवरण के लिए देखिए, दत्त, अमेरिकन मैथेमेटिकल मथली, जिल्द ३४, पृ० ४२०-४२३, और जिल्द ३८, पृ० ३७१-३७६।

[2] भाग देने में लब्धि इतनी बडी लेना चाहिए कि उसका वर्ग अगले स्थान में से घटाया जा सके। भास्कर प्रथम, नीलकण्ठ, तथा अन्य टीकाकारो के अनुसार, मूल पाठ का यही भाव है।

[3] आर्यभटीय, गणितपाद, श्लोक ४। रोडे (जर्नल एशियाटिक, १८८०, जिल्द २), के (जर्नल एशियाटिक सोसायटी बगाल, १९०७, जिल्द ३, और १९०८, जिल्द ४), सिंह (बुलेटिन कलकत्ता मैथेमटिकल सोसायटी, १९२७, जिल्द १८), क्लार्क (आर्यभटीय) और अन्य लोगो द्वारा इस नियम का पहले अनुवाद किया जा चुका है। उनमें से के का अनुवाद नितान्त अशुद्ध है।

वर्ग और अवर्ग स्थान ऊर्ध्वाधर और क्षैतिज रेखाओ मे चिह्नित करने के वाद वर्गमूल की क्रिया निम्न प्रकार से की जाती है

| – | – |
५ ४ ७ ५ ६

वर्ग को घटाने पर ४ वर्गमूल=२

द्विगुणित वर्गमूल से भाग देने पर ४) १४ (३ लब्धि को एक स्थान हटा कर
१२ रखने पर वर्गमूल=२३
२७

लब्धि के वर्ग को घटाने पर ९

द्विगुणित मूल से भाग देने पर ४६) १८५ (४ लब्धि को एक स्थान हटा कर रखने
१८४ पर वर्गमूल=२३४
१६

लब्धि के वर्ग को घटाने पर १६
०

क्रिया समाप्त हो गयी। वर्गमूल २३४ मिला।

जी० आर० के[1] ने कहा है कि आर्यभट की विधि वीजीय प्रकृति की है और थिअन ऑव अलेक्जेंड्रिया की विधि के अनुरूप है। उनके दोनो कथन अशुद्ध है।[2]

सिद्धसेन गणि (ल० ५५०ई०) के निम्नलिखित अवतरण से, जो उनकी तत्वार्थाधिगम सूत्र[3] की टीका में उपलब्ध है, निश्चित रूप मे सिद्ध होता है कि वर्गमूल निकालने की विधि वीजीय नही है। १,००,००० योजन व्यास के वृत्त की परिधि ज्ञात करने के सबध में वे कहते है

"व्यास का मान सौ हजार योजन है, उसे १०० हजार से गुणा करने पर उसका वर्ग हो जाता है, इसे पुन १० से गुणा करते है और तव उस (गुणनफल) का वर्ग-मूल निकालते है। प्राप्त वर्गमूल वृत्त की परिधि होगा। (वर्गमूल निकालने

[1] देखिए जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव वगाल, जिल्द ३ और ४, में "नोट्स आन इडियन मैथेमेटिक्स, १ और २, शीर्षक लेख।

[2] विवरण के लिए देखिए सिह, पूर्वोक्त, क्लार्क, आर्यभटीय, पृ० २३ आदि भी।

[3] ३ ११।

की विधि से) योजन प्राप्त करने मे हमें वर्गमूल (की पक्ति) मे क्रमश. २,१,६,२,२ और ७ अक मिलते हैं, और नीचे (अन्तिम लब्धि के रूप मे) ६३२४५४ सख्या मिलती है। इसको आधा करने पर तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताइस मिलता है। दी हुई सख्या (इसके वर्ग से) कुछ अधिक है, क्योकि ४८४४७१ शेष बचता है ।"

"इसके अनन्तर ४ से गुणा करने पर ७५६०००००००००० की प्राप्ति होती ह। इसका वर्गमूल पूर्णज्या का मान है। इसका वर्गमूल निकालने मे क्रमश २,७,४,९,५, और ४ अक मिलेगे। ।"

स्पष्ट है कि उपर्युक्त अवतरण मे वर्गमूल निकालने के लिए आर्यभट की विधि का अनुसरण किया गया है क्योकि वर्गमूल के अक क्रमश एक-एक करके प्राप्त हुए है।

परवर्ती लेखको ने वर्गमूल निकालने की विधि का अधिक विवरण दिया है। उदाहरणत, श्रीधर कहते हैं

"(अतिम) विषमस्थान मे (बडी से बडी सख्या के) वर्ग को घटाओ (जो घट जाय)। उसके बाद वर्गमूल के दूने को एक स्थान (दाहिनी ओर) हटा कर (नीचे की पक्ति में) रखो, और उससे (दी हुई सख्या के) शेष को भाग दो। प्राप्त लब्धि को (भी नीचे की) पक्ति मे रखो। उस (लब्धि) के वर्ग को (दी हुई सख्या के शेष मे) घटाओ, और उसके बाद लब्धि को दूना कर दो। (इस प्रकार से) प्राप्त द्विगुणित) सख्या को पूर्ववत् एक स्थान (दाहिनी ओर) हटाकर रखो, और उसमे (दी हुई सख्या के) शेष को भाग दो। अन्त मे द्विगुणित सख्या को आधा कर दो। (यही इष्ट वर्गमूल होगा)।"[1]

महावीर,[2] आर्यभट द्वितीय[3], श्रीपति[4], और भास्कर द्वितीय[5], की विधियाँ श्रीधर की विधि के अनुरूप है।

[1] त्रिशतिका, पृ० ५। पाटी पर लिखने की विधि की सोदाहरण विवृति के लिए देखिए ए० एन० सिंह, बुलेटिन कलकत्ता मैथेमेटिकल सोसायटी, जिल्द १८, पृ० १२६।

[2] गणित सार-सग्रह, परिकर्म-व्यवहार, श्लोक ३६।

[3] महासिद्धान्त अध्याय १५, श्लोक ६ (उत्तरार्ध) ७।

[4] सिद्धान्तशेखर, अध्याय १३, श्लोक ५। गणित-तिलक श्लोक २३।

[5] लीलावती पृ० ४। भास्कर द्वितीय की पक्ति मे द्विगुणित मूल रहता है। जबकि आर्यभट प्रथम की पक्ति मे यथार्थ मूल रहता है। देखिए सिंह, पूर्वोक्त।

वर्ग और अवर्ग स्थान ऊर्ध्वाधर और क्षैतिज रेखाओ मे चिह्नित करने के वाद वर्गमूल की क्रिया निम्न प्रकार से की जाती है

| – | – |
५ ४ ७ ५ ६

वर्ग को घटाने पर ४ वर्गमूल=२

द्विगुणित वर्गमूल से भाग देने पर ४) १४ (३ लब्धि को एक स्थान हटा कर

१२ रखने पर वर्गमूल=२३

२७

लब्धि के वर्ग को घटाने पर ९

द्विगुणित मूल से भाग देने पर ४६) १८५ (४ लब्धि को एक स्थान हटा कर रखने

१८४ पर वर्गमूल=२३४

१६

लब्धि के वर्ग को घटाने पर १६

०

क्रिया समाप्त हो गयी। वर्गमूल २३४ मिला।

जी० आर० के[1] ने कहा है कि आर्यभट की विधि वीजीय प्रकृति की है और थिअन ऑव अलेक्जेड्रिया की विधि के अनुरूप है। उनके दोनो कथन अशुद्ध है।[2]

सिद्धसेन गणि (ल० ५५०ई०) के निम्नलिखित अवतरण से, जो उनकी तत्वार्थाधिगम सूत्र[3] की टीका में उपलब्ध है, निश्चित रूप में सिद्ध होता है कि वर्गमूल निकालने की विधि बीजीय नही है। १,००,००० योजन व्याम के वृत्त की परिधि ज्ञात करने के सबध मे वे कहते है

"व्यास का मान सौ हजार योजन है, उसे १०० हजार से गुणा करने पर उसका वर्ग हो जाता है, इसे पुन १० से गुणा करते हैं और तव उस (गुणनफल) का वर्ग-मूल निकालते है। प्राप्त वर्गमूल वृत्त की परिधि होगा। (वर्गमूल निकालने

[1] देखिए जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बगाल, जिल्द ३ और ४, में "नोट्स आन इडियन मैथेमेटिक्स, १ और २, शीर्षक लेख।

[2] विवरण के लिए देखिए सिंह, पूर्वोक्त, क्लार्क, आर्यभटीय, पृ० २३ आदि भी।

[3] ३ ११।

की विधि से) योजन प्राप्त करने मे हमे वर्गमूल (की पंक्ति) मे क्रमश. ३,१,६,२,२ और ७ अंक मिलते है, और नीचे (अन्तिम लब्धि के रूप मे) ६३२४५४ सख्या मिलती है। इसको आधा करने पर तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताइस मिलता है। दी हुई सख्या (इसके वर्ग से) कुछ अधिक है, क्योकि ४८४४७१ शेष बचता है ।"

"इसके अनन्तर ४ से गुणा करने पर ७५६०००००००००० की प्राप्ति होती है। इसका वर्गमूल पूर्णज्या का मान है। इसका वर्गमूल निकालने मे क्रमश २,७,४,९,५, और ४ अंक मिलेगे। ।"

स्पष्ट है कि उपर्युक्त अवतरण में वर्गमूल निकालने के लिए आर्यभट की विधि का अनुसरण किया गया है क्योकि वर्गमूल के अंक क्रमश एक-एक करके प्राप्त हुए है।

परवर्ती लेखको ने वर्गमूल निकालने की विधि का अधिक विवरण दिया है। उदाहरणत, श्रीधर कहते है

"(अंतिम) विषमस्थान मे (बडी से बडी सख्या के) वर्ग को घटाओ (जो घट जाय)। उसके बाद वर्गमूल के दूने को एक स्थान (दाहिनी ओर) हटा कर (नीचे की पंक्ति मे) रखो, और उससे (दी हुई सख्या के) शेष को भाग दो। प्राप्त लब्धि का (भी नीचे की) पंक्ति मे रखो। उस (लब्धि) के वर्ग को (दी हुई सख्या के शेष मे) घटाओ, और उसके बाद लब्धि को दूना कर दो। (इस प्रकार से) प्राप्त द्विगुणित) सख्या को पूर्ववत् एक स्थान (दाहिनी ओर) हटाकर रखो, और उससे (दी हुई सख्या के) शेष को भाग दो। अन्त मे द्विगुणित सख्या को आधा कर दो। (यही इष्ट वर्गमूल होगा)।"[1]

महावीर,[2] आर्यभट द्वितीय[3], श्रीपति[4], और भास्कर द्वितीय[5], की विधियाँ श्रीधर की विधि के अनुरूप है।

[1] त्रिशतिका, पृ० ५। पाटी पर लिखने की विधि की सोदाहरण विवृति के लिए देखिए ए० एन० सिंह, बुलेटिन कलकत्ता मैथेमेटिकल सोसाइटी, जिल्द १८, पृ० १२६।

[2] गणित सार-संग्रह, परिकर्म-व्यवहार, श्लोक ३६।

[3] महासिद्धान्त, अध्याय १५, श्लोक ६ (उत्तरार्ध) ७।

[4] सिद्धान्तशेखर अध्याय १३, श्लोक ५। गणित-तिलक श्लोक २३।

[5] लीलावती पृ० ४। भास्कर द्वितीय की पंक्ति में द्विगुणित मूल रहता है। जबकि आर्यभट प्रथम की पंक्ति में यथार्थ मूल रहता है। देखिए सिंह, पूर्वोक्त।

इस विधि के अनुसार पाटी पर वर्गमूल निकालने की रीति निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी।

**उदाहरण।** ५४७५६ का वर्गमूल निकालना।

पहले दी हुई संख्या को पाटी पर लिखते हैं और सम तथा विषम स्थानों पर क्रम से क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर रेखाओं द्वारा सूचित करते हैं, यथा

|–|–|
५४७५६

अन्तिम विषम स्थान ५ में, बड़ी से बड़ी वर्ग संख्या ४ घटायी जा सकती है। अतएव ५ में से ४ घटाते हैं, शेष १ मिलता है। अतएव ५ को मिटा कर उसके स्थान पर १ रखते हैं। इसके बाद द्विगुणित वर्गमूल (२×२=४) को एक स्थान दाहिनी ओर संख्या के नीचे रखते हैं

|–|–|
१४७५६
४

नीचेवाली संख्या ४ से ऊपर की संख्या १४ को भाग देते हैं, ३ लब्धि मिलती है और २ शेष बचता है। ३ को ४ के दाहिनी ओर रखते हैं और १४ को मिटा कर उसके स्थान में २ रखते हैं, इस प्रकार पाटी पर निम्न संख्याएँ होती हैं।

–|–|
२७५६
४३

३ के वर्ग को ऊपर की संख्या २७ में घटाते हैं, १८ शेष बचता है। अतएव २७ को मिटा कर उसके स्थान में १८ रखते हैं। साथ ही साथ ३ को मिटा कर उसके स्थान में ३ का दूना अर्थात् ६ रखते हैं।

–|–|
१८५६
४६

अब ४६ को एक स्थान दाहिनी ओर हटा कर लिखते हैं।

–|–|
१८५६
४६

इसके बाद १८५ को ४६ से भाग देते हैं, ४ लब्धि मिलती है और १ शेष बचता है। ४ को ४६ के दाहिनी ओर रखते हैं और १८५ को मिटा कर उसके स्थान में १ रखते हैं।

—।
१६
४६४

अब ४ के वर्ग को १६ मे घटाते है, शेष ० बचता है। अतएव १६ को मिटा देते है। इसके बाद ४ को दूना करके रखते है।

४६८

यह द्विगुणित वर्गमूल है। इसको आधा करने पर २३४ मिलता है जो इष्ट वर्गमूल है।

प्रतीत होता है कि हिन्दू अको के साथ वर्गमूल निकालने की उपर्युक्त विधि भी ८वी शताब्दी के लगभग अरब को पहुँचायी गयी थी, क्योकि यह विधि गणित के अरबी ग्रथो मे बिलकुल इसी स्वरूप मे मिलती है।[1]

प्यूरबाख (१४२३-१४६१ ई०), शूके (१४८४ ई०) ला रोश (१५२० ई०), गेमा फ्रिसियस (१५४० ई०), कतानिओ (१५४६ ई०) इत्यादि यूरोपीय लेखकों के ग्रथो मे भी यह विधि इसी स्वरूप मे मिलती है।[2]

## ० घनमूल।

**परिभाषा**

इस परिकर्म के लिए हिन्दू गणित मे दो शब्द प्रयुक्त हुए है, घनमूल और घनपद। इन शब्दो की व्याख्या की जा चुकी है।

**कारण**

इस परिक्रम का वर्णन सर्वप्रथम आर्यभटीय मे मिलता है। परन्तु यह वर्णन अत्यन्त सक्षेप मे है

"(अतिम घन स्थान मे सबसे बडी घन सख्या घटाओ। इसके बाद) द्वितीय अघन (स्थान) से (आरम्भ करके जो सख्या बायी ओर हो उसे) घनमूल के वर्ग के तिगुने से भाग दो। (इसके बाद) प्रथम घन मे (आरम्भ करके बायी

[1] उदाहरणार्थ, अल्-नसवी (१०२५ ई०)। देखिए सूटर, बिब्लियोथेका मैथेमेटिका, जिल्द ७, पृ० ११४ और वेप्के, जर्नल एशियाटिक जिल्द १, १८६३।

[2] देखिए स्मिथ, हिस्ट्री, जिल्द २, पृ० १४४-१४८।

ओर जो सख्या हो उसमे से) त्रिगुणित घनमूल के गुणनफल को, तथा (अगले) घनस्थान से लब्धि के घन को घटाओ।"[1]

टीकाकारो की व्याख्या के अनुसार, इकाई का स्थान घन स्थान है, दहाई का स्थान प्रथम अघन स्थान है, सैकडे का स्थान द्वितीय अघन स्थान है, हजार का स्थान घन स्थान है, दस हजार का स्थान प्रथम अघन स्थान है, इत्यादि।' दी हुई सख्या के ऊपर घन, प्रथम अघन और द्वितीय अघन स्थानो के चिह्न लगाने के बाद, घनमूल निकालने की क्रिया का आरम्भ अतिम घन (स्थान) मे सबसे बडी घन सख्या के घटाने मे होता है। यद्यपि यह क्रिया उपर्युक्त नियम मे स्पष्टतया नही वर्णन की गयी है, तो भी टीकाकारो का मत है कि 'घनस्य मूलवर्गेण' कहने मे यह क्रिया निहित है। उपर्युक्त विधि निम्नोदाहरण मे स्पष्ट हो जायगी।

उदाहरण। १९५३१२५ का घनमूल निकालना।

अको के ऊपर घन और अघन के चिह्न लगाने के बाद घनमूल की क्रिया का क्रम इस प्रकार है

| | | |
|---|---|---|
| | घ अ अ घ अ अ घ | |
| | १ ९ ५ ३ १ २ ५ | |
| घन घटाने पर | १ | (स) घनमूल = १ |
| घनमूल के वर्ग के तिगुने | ३) ९ (२ | (अ) घनमूल के बाद |
| (अर्थात् ३ × १²) मे भाग देने पर | ६ | लब्धि रखने पर मिलता है |
| लब्धि वर्ग और त्रिगुणित घनमूल के | ३५ | १२ |
| गुणनफल (३ × १ × २²) को घटाने पर | १२ | (ब) |
| लब्धि के घन (अर्थात् २³) को | २३३ | |
| घटाने पर | ८ | (स) |

[1] आर्यभटीय, गणितपाद, श्लोक ५। इस नियम का अनुवाद रोडे, के, सिंह, क्लार्क, सेनगुप्त, आदि ने किया है। के का अनुवाद नितान्त अशुद्ध है। अन्य अनुवाद स्वतत्र होते हुए भी परिणामत शुद्ध है। क्लार्क का 'दि (प्रिसीडिंग) घन' प्रयोग कुछ भ्रमात्मक है।

[2] भाग देने में लब्धि इतनी बडी लेना चाहिए कि अगली दो क्रियाएँ (ब) और (स) की जा सकें।

घनमूल के वर्ग के तिगुन (अर्थात् ४३२)२०५१)५ (अ) घनमूल १२ के आगे
३ × १२²) से भाग देने पर २१६० लब्धि लिखने पर
त्रिगुणित घनमूल और लब्धिवर्ग के गुणन ९१२ मिलता है १२५
फल (अर्थात् ३ × १२ × ५²) को घटाने पर ९०० (ब)
१२५
लब्धि के घन (अर्थात् ५³) को घटाने पर १२५ (स)

इस प्रकार घनमूल=१२५

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि घनमूल निकालने की आधुनिक विधि आर्य-भट की विधि का रूपान्तर है।

ऊपर दी हुई विधि हिन्दू गणित के सब ग्रंथों में मिलती है। उदाहरणत, ब्रह्मगुप्त कहते हैं,

"(अंतिम घन स्थान पर्यन्त संख्या में सबसे बड़ी घन संख्या घटाने के बाद) द्वितीय अघन स्थान में (आरम्भ करके बायीं ओर) जो संख्या हो उसको घनमूल के वर्ग के तिगुने से भाग दो। प्राप्त लब्धि के वर्ग और त्रिगुणित घनमूल के गुणनफल को प्रथम अघन (पर्यन्त संख्या) में और तत्पश्चात् लब्धि के घन को घन (स्थान पर्यन्त संख्या) में घटाओ। ऐसा (बार बार) करने पर घनमूल प्राप्त होगा।"[1]

श्रीधर ने पाटी पर की जानेवाली प्रक्रिया का अधिक विस्तृत विवरण दिया है। वह इस प्रकार है

"(दायीं से आरम्भ करके क्रमश) एक घन स्थान होता है और दो अघन स्थान होते हैं। (दी हुई संख्या के अंकों के ऊपर घन और अघन चिह्नों को अंकित करो)। (अंतिम) घन स्थान में से (सबसे बड़ी) घन संख्या घटाओ। घनमूल को तीसरे पद (अर्थात द्वितीय अघन स्थान) के नीचे रखकर, (द्वितीय अघन स्थान को) घनमूल के वर्ग के तिगुने से भाग दो। लब्धि को (घनमूल की)

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धांत पृ० १७५। देखिए कोलब्रुक पूर्वोक्त ग्रंथ पृ० २८०।

पक्ति मे (घनमूल के दाहिनी ओर) रखकर उसके वर्ग को त्रिगुणित अन्त्य (घनमूल) से गुणा करके ऊपर की सख्या में घटाओ।[1] पुन (पक्तिवाली सख्या का घनमूल मानकर) '(घनमूल को) तृतीय पद (अर्थात् द्वितीय अघन स्थान) के नीचे रखो' वाली विधि का प्रयोग करो। यही घनमूल निकालने की विधि है।"[2]

आर्यभट द्वितीय ने श्रीधर का अनुकरण किया है और घनमूल निकालने की विधि को निम्न प्रकार वर्णित किया है

"(इकाई से आरम्भ करके) पदो (अर्थात् स्थानो) की क्रम से 'घन', 'भाज्य' और 'शोध्य' सज्ञाएँ होती है। (अतिम) घन स्थान से (सबसे बडी) घन सख्या को घटाना चाहिए। घनमूल को 'भाज्य' पद के नीचे रखकर, उस पद को त्रिगुणित घनमूल वर्ग से भाग देना चाहिए, और लब्धि को (घनमूल की) पक्ति मे रखकर उसके वर्ग को त्रिगुणित पूर्व (अर्थात् घनमूल) से गुणा करके शोध्य से, और (लब्धि के) घन को घन-पद से घटाना चाहिए। (इस प्रकार मे) प्राप्त (आशिक) घनमूल को शोध्य के नीचे रखकर पुन उपर्युक्त क्रिया करनी चाहिए।"[3]

जिस सख्या का घनमूल निकालना होता है उसके अको को (इकाई से आरम्भ करके) तीन तीन अको के समूह मे विभक्त करते है (जिन्हे क्रम से घन, अघन और अघन कहते हैं)। बायी ओर से आरम्भ करके अन्तिम घन पर्यन्त सख्या मे इष्ट घनमूल का पहला अक (बायी ओर से गणना करने पर) मिलता है। दाहिनी ओर के अगले तीन अको से घनमूल का दूसरा अक मिलता है, और इसी प्रकार आगे के तीन तीन अको से घनमूल के अन्य अक प्राप्त होते है। जब क्रिया पाटी पर की जाती है, तब सख्या के अको के ऊपर घन और अघन के चिह्न लगा देते है, और उसके बाद निम्न रीति से क्रिया करते है

**उदाहरण।** १९५३१२५ का घनमूल निकालना।

पहले सख्या को लिखते है और अको के ऊपर घन और अघन चिह्न लगाते है

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| घ | अ | अ | घ | अ | अ | घ |
| १ | ९ | ५ | ३ | १ | २ | ५ |

[1] नीचे की पक्ति में लिखे हुए घनमूल को 'अन्त्य' और लब्धि को 'आदि' कहा गया है।

[2] त्रिशतिका, पृ० ६ आदि।

[3] महासिद्धान्त, पृ० १४५।

अन्तिम घन स्थान से (जिसके ऊपर घ लिखा है) बड़ी से बड़ी घन संख्या घटाते हैं। यहाँ पर १³ घटावेंगे। घटाने से शून्य बचता है। इसलिए १ को मिटा देते हैं। १³ के घनमूल १ को द्वितीय अघन (अर्थात् अंतिम घन स्थान के दाहिनी ओर वाले स्थान) के नीचे लिखते हैं।

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| घ | अ | अ | घ | अ | अ | घ | | ३)९(२ |
| | ९ | ५ | ३ | १ | २ | ५ | | ६ |
| | १ | | | | | | | ३ |

घनमूल का दूसरा अंक प्राप्त करने के लिए द्वितीय अघन स्थानवाली संख्या ९ को घनमूल के वर्ग के तिगुने (अर्थात् ३ × १² = ३) से भाग देते हैं। (ध्यान रखना चाहिए कि भाग निःशेष न होना चाहिए)। लब्धि २ मिलती है जिसे प्रथम अघन स्थान के नीचे लिखते हैं, और शेष ३ बचता है, जिसको ९ को मिटाकर उसके स्थान में रखते हैं। इस प्रकार पाटी पर निम्न संख्याएँ होती हैं,

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| घ | अ | अ | घ | अ | अ | घ | | ३५ |
| | ३ | ५ | ३ | १ | २ | ५ | | १२ |
| | १ | २ | | | | | | २३ |

नीचे की पंक्तिवाली संख्या १२ के २ को आदि और १ को अन्त्य कहते हैं। अब त्रिगुणित घनमूल और आदिवर्ग के गुणनफल को प्रथम अघन पर्यन्त संख्या (अर्थात् ३५) में घटाते हैं, शेष २३ बचता है। अतएव ३५ को मिटा देते हैं और उसके स्थान में २३ लिखते हैं।

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अ | अ | घ | अ | अ | घ | | |
| २ | ३ | ३ | १ | २ | ५ | | २३३ |
| १ | २ | | | | | | ८ |
| | | | | | | | २२५ |

इसके बाद आदि के घन (अर्थात् ८) को घन स्थानवाली संख्या में घटाते हैं, शेष २२५ बचता है। अतएव २३३ को मिटाकर उसके स्थान में २२५ लिखते हैं।

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| अ | अ | घ | अ | अ | घ |
| २ | २ | ५ | १ | २ | ५ |
| १ | २ | | | | |

क्रिया का एक चक्र अब समाप्त हो गया। अतएव नीचे की संख्या १२ को घनमूल मान कर उपर्युक्त क्रिया की पुनरावृत्ति करते हैं। पहले १२ को द्वितीय अघन स्थान के नीचे लिखते हैं। पाटी पर अब निम्न संख्याएँ होती हैं,

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| अ | अ | घ | अ | अ | घ | |
| २ | २ | ५ | १ | २ | ५ | ४३२)२२५१(५ |
| | | १ | २ | | | २१६० |
| | | | | | | ९१ |

अब पूर्ववत् घनमूल-वर्ग के तिगुने (अर्थात ३ × १२$^{२}$=४३२) से २२५१ को भाग देते हैं, लब्धि ५ को प्रथम अघन के नीचे लिखते हैं और शेष ९१ को २२५१ को मिटाकर उसके स्थान मे लिखते है। इस प्रकार पाटी पर अब निम्न सख्याएँ होती हैं।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| घ | अ | अ | घ | ९१२ |
| ९ | १ | २ | ५ | ९०० |
| १ | २ | ५ | | १२ |

अब १२ को अन्त्य और ५ को आदि कल्पना करते है। त्रिगुणित अन्त्य और आदि-वर्ग के गुणनफल (अर्थात् ३ × १२ × ५$^{२}$=९००) को द्वितीय अघन स्थान (अर्थात् ९१२) मे घटाते है, शेष १२ बचता है। अतएव ९१२ को मिटा कर उसके स्थान मे १२ लिखते है। इस प्रकार पाटी पर निम्न सख्याएँ होती है।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| | अ | अ | घ | |
| | १ | २ | ५ | १२५ |
| १ | २ | ५ | | १२५ |
| | | | | ० |

अब आदि के घन (अर्थात् ५$^{३}$=१२५) को घन स्थान से घटाते है, शेष ० बचता है। अतएव १२५ को मिटा देते है। अब पाटी पर केवल द्वितीय पंक्ति शेष बचती है

१२५

यही सख्या इष्ट घनमूल है। शेष शून्य होने के कारण यह पूर्ण घनमूल है।

पाटी पर लिखी हुई सख्याओ को बार-बार मिटाते रहने का कारण यह है कि पाटी इतनी बडी नही होती कि सपूर्ण क्रिया के अक उस पर लिखे जा सके। अकसमूह के तीनो अक एक साथ लिखे जाते है। भाग करने और घटाने की क्रिया अको को अन्यत्र पाटी पर लिखकर की जाती थी (जैसा कि ऊपर के उदाहरण में किया गया है), और बाद मे मूल सख्या को मिटा कर आवश्यक परिवर्तन किये जाते थे।

## १० क्रिया की शुद्धता की परीक्षा

गणितीय परिकर्मों की अनुलोम और विलोम दोनो विधियो से प्राप्त परिणामो की शुद्धता की परीक्षा करने का नियम सबसे पहले महा-सिद्धान्त मे मिलता है जहाँ पर इसका निम्न प्रकार से वर्णन किया गया है[1]

"गुण्य, गुणक और गुणनफल प्रत्येक के अपने अको को अलग अलग तब तक जोडो जब तक जोड एक अक का न हो जाय[2], इसी प्रकार भाज्य, भाजक और लब्धि प्रत्येक के अपने अको को भी अलग अलग जोडो। यदि गुण्य और गुणक (के उक्त योगो) के गुणनफल के अको का योग, गुणनफल (के अको के योग) के तुल्य हो, तो (समझना चाहिए कि) गुणन शुद्ध है, यदि लब्धि और भाजक के (योगो के) गुणनफल मे शेष (के अको) का योग जोड देने पर जो सख्या आवे उसके (अको के योग के) बराबर, भाज्य (का योग) हो, तो (समझना चाहिए कि लब्धि और शेष शुद्ध हैं (अर्थात् भाग शुद्ध है)। वर्गसख्या के अपने अको का योग यदि वर्गमूल के (अपने अको के जोड के) वर्ग तथा शेष के तुल्य हो, तो (समझना चाहिए कि) वर्ग और वर्गमूल शुद्ध है। घन (के अपने अको) का योग यदि घनमूल (के अको) के योग के घन धन शेष के तुल्य हो, तो (समझना चाहिए कि) घन और घनमूल तथा शेष शुद्ध हैं। यह गुणन इत्यादि की (शुद्धता की परीक्षा करने की) सरल शोधनिका (कसौटी) है।"

उपर्युक्त नियमो की उत्पत्ति निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जायगी। मान लो कि

$$न = प_म प_{म-१} \qquad प_२ प_१$$

दशमलव पद्धति मे लिखी हुई म अको की सख्या है। मान लो कि इस सख्या के अको का योग स$_१$ है, और स$_१$ के अको का जोड स$_२$ है, इत्यादि। अतएव

$$न = प_१ + १०प_२ + \qquad + १०^{म-१} प_म,$$

[1] महा-सिद्धान्त, पृ० २४५।

[2] अर्थात् पहले सख्या के अको को जोडो, इसके बाद जोड करने से प्राप्त सख्या के अको को जोडो, और यह क्रिया तब तक करो जब तक एक अक की सख्या न प्राप्त हो जाय।

और $स_१ = प_१ + प_२ + \quad + प_म$

अतएव, घटाने पर

$$न - स_१ = ९(प_२ + ११प_३ + \quad ),$$

इसलिए

$$न \equiv स_१ \quad (मापाक\ ९)$$

इसी प्रकार

$$स_१ \equiv स_२ \quad (मापाक\ ९)$$
$$स_२ \equiv स_३ \quad (मापाक\ ९)$$

$$स_{र-१} \equiv स_र \quad (मापाक\ ९)$$

जहाँ पर $स_र$ केवल एक अक की सख्या है, जो कि या तो ९ के बराबर है या ९ से छोटी है। मान लो कि यह अक न' है। तो

$$न \equiv न' \quad (मापाक\ ९)$$

अतएव यह सिद्ध हुआ कि किसी सख्या के अको को बार-बार जोडने से जो अक प्राप्त होता है वह उस सख्या को ९ से भाग देने से प्राप्त शेष के तुल्य होता है।

अब, सख्या ना की कल्पना करो जो उस सख्या के तुल्य है जो प अन्य सख्याओ $न_१$, $न_२$, न के गुणनफल मे अन्य सख्या रा को जोडने या घटाने से प्राप्त होती है। तो हम लिख सकते है कि--

$$ना = न_१ न_२ \quad न_प \pm रा$$

अब, मान लो कि

$$न_१ \equiv न'_१ \quad (मापाक\ ९)$$
$$न_२ \equiv न'_२ \quad (मापाक\ ९)$$

.

..

$$न_प \equiv न'_प \quad (मापाक\ ९)$$

इनको गुणा करने पर,

$$न_१ न_२ \quad न_प \equiv न'_१ न'_२ \quad न'_प \quad (मापाक\ ९)$$

पुनश्च, यदि

$$\text{रा} \equiv \text{र}' \qquad (\text{मापाक } ९)$$

तो

$$\text{न}_१ \text{न}_२ \ldots\ldots \text{न}_\text{प} \pm \text{रा} \equiv \text{न}'_१ \text{न}'_२ \ldots\ldots \text{न}'_\text{प} \pm \text{र}' \quad (\text{मापाक } ९)$$

अतएव

$$\text{ना} \equiv \text{न}'_१ \text{न}'_२ \qquad \text{न}'_\text{प} \pm \text{र}' \quad (\text{मापाक } ९)$$

विशेष रूप से, यदि

$$\text{न}_१ = \text{न}_२ \qquad = \text{न}_\text{प} = \text{न},$$

तो

$$\text{न}'_१ = \text{न}'_२ = \qquad = \text{न}'_\text{प} = \text{न}'$$

अतएव

$$\text{ना} = \text{न}^\text{प} \pm \text{रा}$$

और $$\text{ना} \equiv \text{न}'^\text{प} \pm \text{र}' \qquad (\text{मापाक } ९)$$

उपर्युक्त विवेचन से महा-सिद्धान्त के नियमो की सत्यता का निरूपण हो जाता है।

गुणन की शुद्धता की परीक्षा करने का निम्नलिखित नियम नारायण ने दिया है[1]

"गुण्य और गुणक दोनो को (अलग-अलग) किसी कल्पित संख्या से भाग देकर जो शेष मिले उनके गुणनफल को कल्पित संख्या से भाग दो। उपलब्ध शेष यदि उस शेष के बराबर हो जो (गुण्य और गुणक के) गुणनफल को कल्पित संख्या से भाग देने पर मिलता है तो (समझना चाहिए कि गुणन) शुद्ध है।"

यहाँ पर यह देखने योग्य है कि ९ अंक से भाग देकर गणित-शुद्धि की परीक्षा करने के सम्पूर्ण नियम पहले पहल भारतवर्ष मे मिलते है। गुणन और भाग की क्रियाओ के परीक्षण के नियम सम्भवत हिन्दुओ को बहुत पहले से ज्ञात है। परन्तु चूँकि इन परीक्षणो की गणना मौलिक परिकर्मों मे नही की जाती थी, इसीलिए वे

[1] इस नियम को सुधाकर द्विवेदी ने उद्धृत किया है। देखिए सुधाकर द्विवेदी, गणित का इतिहास (हिन्दी मे), बनारस १९१०, पृ० ७९।

पाटी-गणित के ग्रथो मे नही दिये गये है।[1] कदाचित् नारायण ही पहले गणितज्ञ है जिन्होने किसी भी सख्या मे भाग देकर गणित की शुद्धता के परीक्षण का नियम दिया है।

प्रारम्भिक अरब लेखको के ग्रथो मे ९ मे भाग देकर गुणन और नि शेष भाग के परीक्षण के नियम मिलते है परन्तु सब परिकर्मो की शुद्धता की परीक्षा करने के सपूर्ण नियम सबसे पहले अविसेन्न[2] (ल० १०२० ई०) के ग्रथो मे मिलते है, जिसने अपने नियमो को 'हिन्दू' नियम कहा है। मैक्सिमस प्लानुडेस[3] ने भी नौ मे भाग देनेवाले नियम को हिन्दू-व्युत्पत्ति का बताया है।

अतएव नौ से भाग देकर गणितशुद्धि की परीक्षा करने के नियम की हिन्दू व्युत्पत्ति के विषय मे कोई सदेह नही है। आर्यभट द्वितीय के पहले इसका प्रयोग सभवत. गुणन और भाग के परीक्षण मे किया जाता था। जब इसका पदार्पण अरब मे हुआ तब कदाचित् वह इसी अपूर्ण अवस्था मे था। उसके बाद सम्भवत- अरबो और हिन्दुओ दोनो ने अलग-अलग इसको पूर्ण किया। अरबो और मह-सिद्धान्तकार आर्यभट द्वितीय के नियमो की विभिन्नता का कदाचित् यही कारण है।[4] तथापि यह निश्चित है कि हिन्दुओ ने उक्त नियम को अरबो से नही पाया, क्योकि आर्यभट द्वितीय का ग्रथ अविसेन्न के पहले

[1] उपर्युक्त ग्रथो के अतिरिक्त भास्कर द्वितीय कृत करणकुतूहल की सुमतिहर्ष (१६१९ ई०) कृत टीका में तथा सूर्यसिद्धान्त की भूधर-कृत टीका में नौ अक के आधार पर गणित की शुद्धता के परीक्षण के लिए किसी प्राचीन लेखक जीवदत्त (वीजदत्त ?) का निम्नलिखित नियम उद्धृत किया गया है।

"गुण्य और गुणक (दोनो को अलग-अलग) ९ से भाग देने पर जो शेष आवें, उनके गुणनफल को ९ से भाग दो। यदि उपलब्ध शेष, गुण्य और गुणक के घात को ९ से भाग देने से प्राप्त शेष के तुल्य हो तो गणित को शुद्ध कहना चाहिए।" देखिए, करणकुतूहल, (माधव शास्त्री द्वारा सपादित, बम्बई १९०१), अध्याय १, श्लोक ७ पर सुमति हर्ष की टीका, सूर्यसिद्धान्त पर भूधर की टीका।

[2] एफ० वेपके, जर्नल एशियाटिक (६), जिल्द १, १८६३ पृ० ५०० आदि।

[3] देखिए, डेलाम्बर, हिस्ट्री डे ल ऐस्ट्रानमी ऐन्शियन, जिल्द १, पेरिस, १८१७, पृ० ५१८ आदि।

[4] देखिए बी० दत्त, जर्नल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बगाल जिल्द २,३ १९२७, पृ० २६५।

का है। वेहाउद्दीन[1] (ल० १६०० ई०) ने नौ मे भाग देकर गाणितिक क्रियाओ की परीक्षा का जो नियम दिया है उमी प्रकार का है जैसा कि आर्यभट द्वितीय का।

## ११ भिन्न

### प्रारम्भिक प्रयोग

भारतवर्ष मे भिन्नो का ज्ञान बहुत प्राचीन काल से मिलता है। प्राचीनतम ग्रथ ऋग्वेद मे $\frac{1}{2}$ (अर्ध) और $\frac{3}{4}$ (त्रिपाद[2]) भिन्नो का प्रयोग किया गया है। मैत्रायणी-महिता[3] मे एक स्थान पर $\frac{1}{16}$ (कला), $\frac{1}{12}$ (कुष्ठ), $\frac{1}{8}$ (शफ), और $\frac{1}{4}$ (पाद) भिन्नो की चर्चा आयी है। गणित के प्राचीनतम ज्ञात ग्रथ, शुल्व सूत्र, मे भिन्नो का केवल कथन ही नही वल्कि प्रश्नो के न्याम और करण मे प्रयोग भी किया गया है।[4]

लोगो का कथन है कि मिस्र और वावुल के प्राचीन निवामियो ने एक अशवाली भिन्नो का प्रयोग किया था, परन्तु ऐमा कोई भी प्रमाण नही मिलता जिममे मिद्ध हो मके कि उन लोगो ने यौगिक भिन्नो का प्रयोग किया था। यौगिक भिन्न का मवमे प्राचीन ज्ञात उदाहरण ऋग्वेद मे मिलनेवाली भिन्न $\frac{3}{4}$ है। मस्कृत के 'त्रिपाद' शव्द का अथ "तीन पद" है। परन्तु जव इमका प्रयोग अक के अथ मे किया जाता है तव यह भिन्न, किसी वम्तु के उम भाग को सूचित करता है जिमका पूण वम्तु से वही अनुपात होता है जो चतुष्पद के तीन पैरो का उमके चार पैरो से होना है। तथापि पाद शव्द एक शव्दाक है।जो भिन्न $\frac{1}{4}$ को सूचित करता है, और त्रिपाद शव्द की व्युत्पत्ति ठीक उमी प्रकार हुई है जिम प्रकार अगरेजी के शव्द 'थ्री फोर्थम्' की।[5] शुल्व ग्रथो मे एक अशवाली भिन्नो को सूचित करने के लिए अक-वाचक शव्द के माथ 'भाग' अथवा 'अश' शव्द का प्रयोग किया गया है, उदाहरणत पचदश-भाग का अथ है $\frac{1}{15}$,[6] मप्तभाग का अर्थ है $\frac{1}{7}$,[7] इत्यादि। भाग अथवा

[1] खोलासात अल-हिमाव ए० मारे कृत फ्रासीसी अनुवाद, न्यू० अनाल्म मैथेमेटिक, जिल्द ५, १८४६, पृ० २६३।

[2] ऋग्वेद, १० ९० ४।

[3] ३ ७ ७।

[4] वी० दत्त, शुल्व, पृ० २१२ आदि।

[5] त्रि=तीन, और पाद=चतुर्भाग।

[6] आपस्तम्ब शुल्व, १० ३, कात्यायन शुल्व ५ ८।

[7] कात्यायन शुल्व, ६ ४।

अश के साथ क्रमसूचक सख्याओ का प्रयोग भी वहुतायत से मिलता है, उदाहरणत., पचमभाग का अर्थ है $\frac{1}{5}$।[1] कभी-कभी, मभवत. छद की सुविधा के लिए, भाग शब्द की उपेक्षा कर दी जाती है।[2] $\frac{3}{8}$ और $\frac{2}{7}$ यौगिक भिन्नो को क्रमश त्रि-अष्टम (त्र्यष्टम) और द्वि-सप्त से व्यजित किया गया है। वक्षाली हस्तलिपि में $\frac{3}{8}$ को त्र्यष्ट से और $3\frac{3}{8}$ को त्रयस्त्र्यष्ट से सूचित किया गया है।[3] उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर बने हुए भिन्न-सूचक शब्द परवर्ती ग्रथो मे इतनी प्रचुर मात्रा में मिलते है कि उनको यहाँ उदाहृत करने की कोई आवश्यकता नही है। अतएव भिन्नो को व्यजित करने की आधुनिक रीति हिन्दू स्रोतो के आधार पर व्युत्पन्न हुई है और इसके चिह्न ३००० ई० पू० तक दृष्टिगोचर होते है।

## नाप और तौल

भिन्नात्मक राशियो के प्रयोग से वचने के लिए मभी मभ्य देशो में लवाई, तौल और मुद्रा इत्यादि की इकाइयो को छोटी इकाइयो मे विभाजित करने की सामान्य प्रथा है। इससे वाणिज्य की प्रगति तथा वाणिज्य सवधी गणित की उन्नति का पता चलता है। हिन्दुओ ने नाप और तौल की पद्धतियो का प्रयोग प्राचीनतम काल से किया है। शतपथ ब्राह्मण[4] (ल० २००० ई० पू०) में काल-विभाग का अत्यत सूक्ष्म वर्णन मिलता है। इसके अनुसार एक दिन मे ३० मुहूर्त होते है, एक मुहूर्त में १५ क्षिप्र होते है, एक क्षिप्र मे १५ एतर्हि होते है, १ एतर्हि मे १५ इदानी होती है, और १ इदानी में १५ प्राण होते है। इस प्रकार एक प्राण का मान लगभग $\frac{1}{17}$ सेकड के वरावर हुआ। प्राचीन हिन्दुओ के पास समय के इतने सूक्ष्म विभागो को नापने के उपकरण होने की सभावना नही है। ये विभाग पूर्णतया सैद्धान्तिक है और इनका विकास दार्शनिक कारणो से हुआ। तथापि इससे प्रकट होता है कि प्राचीन काल मे ही हिन्दुओ के पास भिन्न सवन्धी सतोपजनक अकगणित अवश्य

[1] आपस्तम्ब शुल्व, ६ ७; १० २, कात्यायन शुल्व, ५ ६।

[2] १ अशवाली भिन्नो में केवल हर का ही कथन किया गया है। यह प्रथा वाद के ग्रथो में भी सामान्यरूप से मिलती है, उदाहरणार्थ, लीलावती, पृ० ७, में षष्ठ=$\frac{1}{6}$।

[3] वक्षाली हस्तलिपि पत्र १०(व)।

[4] १२ ३ २ १।

रहा होगा। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[1] मे एक प्रकरण ऐसा है जिसमे चौथी शताब्दी ई० पू० मे भारतवर्ष मे प्रयोग की जानेवाली मापो और तौलो का विवरण दिया गया है। ललितविस्तर[2] मे बताया गया है कि बुद्ध ने निम्नलिखित रेखा मापो का उपदेश किया था।

| | | |
|---|---|---|
| ७ परमाणु-रज | = | १ रेणु |
| ७ रेणु | = | १ त्रुटि |
| ७ त्रुटि | = | १ वातायन-रज |
| ७ वातायन-रज | = | १ शश-रज |
| ७ शश-रज | = | १ एडक-रज |
| ७ एडक-रज | = | १ गोरज |
| ७ गोरज | = | १ लिक्षा-रज |
| ७ लिक्षा-रज | = | १ सर्षप |
| ७ सर्षप | = | १ यव |
| ७ यव | = | १ अंगुली-पर्व |
| १२ अंगुली पर्व | = | १ वितस्ति |
| २ वितस्ति | = | १ हस्त |
| ४ हस्त | = | १ धनु |
| १००० धनु | = | १ क्रोश |
| ४ क्रोश | = | १ योजन |

उपर्युक्त सारिणी के अनुसार, लम्बाई की सबसे छोटी हिन्दू माप एक परमाणु[3] है जो १·३×$७^{-१०}$ इंच के बराबर है।

पाटीगणित-विषयक सब ग्रंथ, उन उन ग्रंथो मे प्रयुक्त माप और तौल की परिभाषाओ से आरम्भ होते है। पहले के ग्रंथो मे व[illegible] नामक एक

[1] दि अर्थशास्त्र ऑव कौटिल्य आर० शाम शास्त्री द्वारा सपादित, बंगलौर, १९१९
[2] ललित विस्तर आर० मित्र द्वारा सपादित, कलकत्ता, १८७७, पृ० १६८।
[3] सबसे छोटे प्रमाण को परमाणु कहते है। अतएव हिन्दुओ के मत से इस का व्यास १·३×$७^{-१}$ होना है।

विशेष विषय मिलता है।[1] यह ध्यान देने योग्य है कि भिन्न-भिन्न ग्रथो मे वर्णित नाप और तौल की इकाइयाँ एक दूसरे मे भिन्न है। ये वे इकाइयाँ है जो ग्रथ रचे जाने के समय उस स्थान मे प्रचलित थी जहाँ ग्रथ लिखा गया था।

**परिभाषा**

भिन्न शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'टूटा हुआ'। यूरोपीय शब्द 'फ्रैक्टिओ, 'फ्रैक्शन', 'राउप्ट', 'रोटो' और 'रोक्टो' इत्यादि 'भिन्न' शब्द के अनुवाद है, जो कि लेटिन शब्द 'फ्रैक्टस' (फ्रैन्जिएर) अथवा 'रुप्टम' (अर्थ 'टूटा हुआ') मे व्युत्पन्न किये गये है। हिन्दू शब्द भिन्न का अधिक व्यापक अर्थ है क्योकि

$$\left(\frac{अ}{ब}+\frac{स}{द}\right),\quad \left(\frac{अ}{ब}\text{ का }\frac{स}{द}\right),\quad \left(\frac{अ}{ब}+\frac{स}{द}\text{ का }\frac{अ}{ब}\right)\text{ अथवा }\left(अ+\frac{ब}{म}\right)$$

स्वरूप इसमे सम्मिलित है। इन स्वरूपो को 'जाति' कहते है और हिन्दू ग्रथो मे इनको सरल करने की विशेष विधियाँ मिलती है। श्रीधर और महावीर ने छ प्रकार की जातियो का वर्णन किया है, जबकि ब्रह्मगुप्त ने केवल पाँच जातियो की, तथा भास्कर द्वितीय ने, स्कन्दसेन का अनुसरण करके, केवल चार जातियो की कल्पना की है। भिन्नो को जातियो मे विभाजन करने की आवश्यकता इसलिए पडी कि गाणितिक परिकर्मों को सूचित करने के लिए उनके पास उपयुक्त चिह्न नही थे। हिन्दुओ ने केवल एक ही ऐसे चिह्न का प्रयोग किया है, और वह चिह्न है ऋणसूचक विन्दु।[2]

भिन्न के अर्थ मे 'भाग' और 'अश' शब्दो का भी प्रयोग किया गया है। 'कला' शब्द जो वैदिक काल मे $\frac{१}{१६}$ के लिए प्रयुक्त किया जाता था, बाद मे भिन्न का पर्याय माना जाने लगा। भिन्न के अर्थ मे इसका प्रयोग सर्वप्रथम शुल्व-ग्रथो मे हुआ है।

[1] वल्ली-सवर्णन से तात्पर्य ऐसी क्रिया से है जो रुपया, आना, पाई को रुपये बनाने में प्रयुक्त की जाती है। वल्लीसवर्णन की विधि त्रिशतिका (पृ० १२) और गणिततिलक (पृ० ३६) में मिलती है। बाद के ग्रथो में इस विधि का वर्णन नहीं है।

[2] जो साधारणतया घटाये जानेवाले अक के ऊपर लिखा जाता था।

### भिन्नो का लेखन

अत्यन्त प्राचीन काल मे ही हिन्दू लोग भिन्नो को उसी प्रकार से लिखते आ रहे है, जैसे आजकल हम लोग लिखते है, परन्तु वे अश और हर को विभाजित करने वाली रेखा का व्यवहार नही करते थे। जब कभी एक ही प्रश्न मे बहुत सी भिन्ने होती थी, तब वे उन्हे ऊर्ध्वाधर और क्षैतिज रेखाओ द्वारा अलग कर देते थे। भिन्नो को लिखने की हिन्दू रीति के उदाहरण आगे दिये गये है।

### भिन्नो का अपवर्तन

गाणितिक परिकर्म करने के पूर्व भिन्नो को अपवर्तित करना आवश्यक समझा जाता था। परन्तु अपवर्तन की क्रिया को परिकर्म नही माना जाता था। यह क्रिया गणित की पुस्तको मे नही मिलती, परन्तु सम्भवत मौखिक रूप से इसका उपदेश किया जाता था। इसमे सदेह नही कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे ही यह नियम प्रचलित था, क्योकि उमास्वातिकृत तत्त्वार्थाधिगमसूत्र-भाष्य[1] मे एक स्थान पर दार्शनिक विवेचन की व्याख्या करते समय दृष्टान्त रूप मे इसकी चर्चा की गयी है

"अथवा, जिस प्रकार, भिन्नो को सरल करते समय, कुशल गणितज्ञ द्वारा अश और हर का अपवर्तन कर देने पर भी भिन्न के मान मे कोई अन्तर नही पडता, उसी प्रकार ।"

### भिन्नो का समच्छेदीकरण[2] ('समहर करना')

समच्छेदीकरण की आवश्यकता तब पडती है जब भिन्नो को जोडना या घटाना होता है। इस क्रिया का विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है और साधारणतया इसे सकलित और व्यवकलित के परिकर्मो के साथ-साथ बताया जाता है। ब्रह्मगुप्त[3] ने सकलित और व्यवकलित के परिकर्मो के साथ-साथ समच्छेदीकरण की विधि का निम्न प्रकार से वर्णन किया है

"प्रत्येक (भिन्नात्मक) राशि के अश और हर को अन्य (भिन्नात्मक) राशि के छेद से गुणा करो, तो वे दोनो (राशियाँ) समहर हो जायेंगी। यदि उनको

[1] २, ५८।

[2] समच्छेदीकरण के अन्य पर्याय है—कलासवर्णन, सवर्णन, और समच्छेद-विधि।

[3] ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त पृ० १८२।

जोडना हो तो उनके अशो को जोड दो, यदि घटाना हो तो उनके अशो को घटा दो।"

श्रीधर का कथन है[1]

"(भिन्नो को) समच्छेद करने के लिए प्रत्येक (भिन्न) के अश और हर को अन्य (भिन्नो की ) हरो मे गुणा कर दो।"

अन्य ग्रथो मे भी यह नियम मिलता है।

**मिश्र भिन्न**

यह वतलाया जा चका है कि परिकर्म-मूचक चिह्नो के अभाव के कारण हिन्दू गणितज्ञो ने भिन्नो को ४ जातियो मे विभक्त किया है। वे जातियाँ निम्नलिखित है

(१) भागजाति[2], अर्थात् निम्न स्वरूप की भिन्ने $\left(\frac{अ}{व}\pm\frac{स}{द}\pm\frac{च}{छ}\pm \quad .\right)$

जिसको लिखने की हिन्दू रीति यह है

| | | |
|---|---|---|
| अ | स | च |
| व | द | छ |

अथवा

| | | |
|---|---|---|
| अ | म | ·च |
| व | द | छ |

यहाँ विन्दु (·) ऋणसूचक चिह्न है।

(२) प्रभाग-जाति[3], अर्थात् निम्न स्वरूप की भिन्ने

$$\frac{अ}{व} \text{ का } \frac{स}{द} \text{ का } \frac{च}{छ} \text{ का } \quad )$$

जिसे लिखने की हिन्दू रीति यह है

| | | |
|---|---|---|
| अ | स | च |
| व | द | छ |

[1] त्रिशतिका, पृ० १०। के महोदय का अनुवाद अशुद्ध है।

[2] व्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७५, त्रिशतिका, पृ० १०, गणित-सार-सग्रह, पृ० ३३ (श्लोक ५५, ५६), महासिद्धान्त पृ० १४६, लीलावती, पृ० ६।

[3] त्रिशतिका, पृ० १०, गणित-सार-सग्रह, पृ० ३९ (श्लोक ९९), महासिद्धान्त, पृ० १४६, लीलावती, पृ० ६।

(३) भागानुबन्धजाति[1], अर्थात् निम्न स्वरूपों की भिन्नें[2]

(१) $अ + \frac{ब}{म}$

(२) $\frac{प}{फ} + \frac{प}{फ} का \frac{द}{म} + \left(\frac{प}{फ} + \frac{प}{फ} का \frac{द}{म}\right) का \frac{त}{थ} +$

जिन्हें लिखने की हिन्दू रीति यह है

(अ)

| |
|---|
| अ |
| ब |
| म |

(ब)

| |
|---|
| प<br>फ |
| द<br>म |
| त<br>थ |

(४) भागापवाह-जाति[3], अर्थात् निम्न स्वरूपों की भिन्नें[4]

(अ) $\left(अ - \frac{ब}{म}\right)$

(ब) $\frac{प}{फ} - \frac{प}{फ} का \frac{द}{म} - \left(\frac{प}{फ} - \frac{प}{फ} का \frac{द}{म}\right) का \frac{त}{ध} -$

जिन्हें लिखने की हिन्दू रीति यह है —

(अ)

| |
|---|
| अ |
| ब |
| म |

(ब)

| |
|---|
| प<br>प |
| द<br>म |
| त<br>ध |

[1] त्रिशतिका पृ० १०, गणित-सार-संग्रह पृ० ८१ (श्लोक ११३); महासिद्धान्त पृ० १४८, लीलावती पृ० ७।

[2] इन स्वरूपों को क्रमशः रूपभागानुबन्ध और भागभागानुबन्ध संज्ञाएँ दी गयी हैं।

[3] ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त पृ० १७६, गणित-सार-संग्रह पृ० ८३ (श्लोक १२६), महासिद्धान्त पृ० १४८, लीलावती पृ० ८।

[4] इन स्वरूपों को क्रमशः रूपभागापवाह और भागभागापवाह संज्ञाएँ दी गयी हैं।

श्रीधर और महावीर तथा कुछ अन्य गणितज्ञो ने उपर्युक्त जातियो के अतिरिक्त निम्नलिखित दो जातियाँ और दी है—

(५) भाग-भाग-जाति[1], अर्थात् निम्न स्वरूप की भिन्ने .

$$\left( अ - \frac{ब}{स} \right) \text{ अथवा } \left( \frac{प}{फ} \div \frac{र}{म} \right)$$

भाग के परिकर्म को प्रदर्शित करने का कोई चिह्न न होने के कारण, इन भिन्नो को भी भागानुबन्ध-जाति की भिन्नो की भाँति ही लिखते थे,

यथा

| |
|---|
| अ |
| ब |
| स |

अथवा

| |
|---|
| प |
| फ |
| र |
| म |

भाग इत्यादि क्रियाओ का ज्ञान प्रश्न मे विदित किया जाता था[2], उदाहरणत:, $१ - \frac{१}{६}$ को षड्भागभाग[3] द्वारा सूचित करते थे, जिसका अर्थ है, 'भाग-भाग का छठवाँ भाग' अथवा "$\frac{१}{६}$ द्वारा विभाजित ।"[4]

(६) भागमातृ-जाति[5], अर्थात् उपर्युक्त स्वरूपो के मिश्रण से उत्पन्न भिन्ने। महावीर ने लिखा है कि ऐसी भिन्ने २६ प्रकार की हो सकती है।[6] श्रीधर ने इस जाति के अन्तर्गत निम्नलिखित उदाहरण दिया है[7]

[1] त्रिशतिका, पृ० ११, गणित-सार-सग्रह पृ० ३६ (श्लोक ६६)।

[2] केवल बक्षाली हस्तलिपि में भाग दी जानेवाली राशि के बाद भागसूचक 'भा' अक्षर लिख दिया गया है।

[3] देखिए त्रिशतिका, पृ० ११।

[4] गणित-सार-सग्रह पृ० ४१ (श्लोक ११२) में $२ - \frac{३}{४}$ को सूचित करने के लिए 'त्रिपादभक्त द्विकम्' का प्रयोग किया गया है।

[5] त्रिशतिका, पृ० १२, गणित-सार-सग्रह, पृ० ४५ (श्लोक १३८)।

[6] महावीर ने भिन्न की केवल ५ प्रमुख जातियो की कल्पना की है, अतएव उनके अनुसार निम्न प्रकार की मिश्र भिन्नो की सख्या

$${}^{५}स_{२} + {}^{५}स_{३} + {}^{५}स_{४} + {}^{५}स_{५} = २६$$

है।

[7] त्रिशतिका, पृ० १२।

'आधा, चौथाई का चौथाई, त्रिभागभाग, अपने आधे से युक्त आधा, और अपने आधे से रहित तृतीयांश को जोडने पर क्या धन होगा ?"

आधुनिक सकेत मे इसे इस प्रकार लिखा जायगा

$$\frac{1}{2} + \left(\frac{1}{4} \text{ का } \frac{1}{4}\right) + \left(1 - \frac{1}{3}\right) + \left(\frac{1}{2} + \frac{1}{2} \text{ का } \frac{1}{2}\right) + \left(\frac{1}{3} - \frac{1}{2} \text{ का } \frac{1}{3}\right)$$

प्राचीन हिन्दू पद्धति के अनुसार यह इस प्रकार लिखा जाता था

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १<br>२ | १<br>४ | १<br>४ | १<br>१<br>३ | १<br>२<br>―<br>१<br>२ | १<br>३<br>―<br>१<br>२ |

हिन्दू सकेत का अवगुण स्पष्ट है, क्योकि

| | |
|---|---|
| १<br>४ | १<br>४ |

को $\frac{1}{4}+\frac{1}{4}$ और

| |
|---|
| १<br>१<br>३ |

को $1\frac{1}{3}$ भी पढ सकते है। अतएव सकेत का यथार्थ अर्थ प्रश्न के सदर्भ मे ही जाना जा सकता है।

पहली दो जातियो की भिन्नो को सरल करने के नियम वही है जो भिन्नो को जोडने, घटाने और गुणा करने के होते है। तीसरी और चौथी जातियो को सरल करने के नियम ब्रह्मगुप्त ने एक साथ दिया है

"(नीचे के) छेद से (ऊपरवाले) छेद को गुणा करो, तथा अपने अश से युक्त अथवा हीन (नीचेवाले) छेद से ऊपरवाले अश को गुणा करो।"[1]

श्रीधर ने भागानुबन्ध जाति की भिन्नो को सरल करने के लिए निम्न नियम दिया है

[1] ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त पृ० १७६। अ ± $\frac{ब}{अ}$ के सदृश भिन्नो को सरल करने की विधि अन्यत्र (पृ० १७३) दी गई है।

[2] त्रिशतिका पृ० १०। नियम (१) अ ± $\frac{ब}{स}$ के सदृश भिन्नो के लिए है तथा नियम (२) निम्न प्रकार की भिन्नो के लिए है

$$\frac{अ}{द} \pm \frac{अ}{द} \text{ का } \frac{स}{द}, \; \frac{[illegible]}{द} \pm \frac{[illegible]}{द} \text{ का } \frac{स}{द}, \text{ का } \frac{क}{ग}$$

(१) "भागानुबन्ध-जाति मे पूर्णांक तथा छेद के गुणनफल मे अश को जोडना चाहिए।"

(२) "ऊपर के छेद को नीचे के छेद से गुणा करो, और ऊपर के अश को, अपने अश से युत (नीचे के) छेद मे गुणा करो।"

अन्य लेखको ने भी इसी प्रकार के नियम दिये है।

निम्नलिखित उदाहरण[1] मे सरल करने की क्रिया का स्पष्टीकरण हो जायगा।

**उदाहरण।** $३\frac{१}{२} + ३\frac{१}{२}$ का $\frac{१}{४} + (३\frac{१}{२} + ३\frac{१}{२}$ का $\frac{१}{४})$ का $\frac{१}{६} + \frac{१}{२} + \frac{१}{२}$ का $\frac{१}{३}$
$+ (\frac{१}{२} + \frac{१}{२}$ का $\frac{१}{३})$ का $\frac{१}{४}$

इसको निम्न प्रकार से लिखते थे—

| | |
|---|---|
| ३<br>१<br>२ | <br>१<br>२ |
| १<br>४ | १<br>३ |
| १<br>६ | १<br>४ |

सबसे ऊपर के कोष्ठ मे नियम (१) का प्रयोग करने पर, तथा नीचे के कोष्ठो मे, अशो मे हरो को जोडने पर, निम्नलिखित की प्राप्ति होती है

| | |
|---|---|
| ७<br>२ | १<br>२ |
| ५<br>४ | ४<br>३ |
| ७<br>६ | ५<br>४ |

अब नियमानुसार गुणन की क्रिया करने पर, अर्थात् सबसे ऊपर के कोष्ठ के हर को नीचे के सब हरो मे, तथा अश को नीचे के अशो मे गुणा करने पर निम्नलिखित की प्राप्ति होती है

$$\frac{७}{२} \times \frac{५}{४} \times \frac{७}{६} = \frac{२४५}{४८} \text{ और } \frac{१}{२} \times \frac{४}{३} \times \frac{५}{४} = \frac{२०}{२४}$$

[1] त्रिशतिका, पृ० ११।

अर्थात्

| | |
|---|---|
| २४५ / ४८ | १० / १२ |

समच्छेद करने पर निम्नलिखित मिलता है

| | |
|---|---|
| २४५ / ४८ | ४० / ४८ |

योग करने पर $\frac{२८५}{४८}$ अर्थात् ५ $\frac{४५}{४८}$ मिलता है, और यही इष्टफल है।

भागापवाह का नियम पाटीगणित के सब ग्रंथो मे मिलता है। यह भागानुबन्ध के नियम के समान ही है, अन्तर केवल इतना है कि इसमे जोडने के स्थान पर घटाना पडता है।

**निरुद्ध (अर्थात् लघुतम समापवर्त्य)**

महावीर[1] पहले हिन्दू गणितज्ञ थे जिन्होने क्रिया के लाघवार्थ निरुद्ध की कल्पना की। उन्होने निरुद्ध की निम्न परिभाषा दी है —

"छेदो के महत्तम समापवर्तक और (उससे भाग देने पर प्राप्त) लब्धियो का गुणनफल निरुद्ध कहलाता है।"

भिन्नो का समच्छेद करने के लिए उनका नियम इस प्रकार है

'निरुद्ध को हर से भाग देकर जो लब्धि प्राप्त हो उससे हर और अंश दोनो को गुणा करो। (ऐसा करने से सब भिन्नो का) एक हर हो जायगा।"

भास्कर द्वितीय[3] ने निरुद्ध की चर्चा नही की है परन्तु यह कहा है कि क्रिया का लाघव किया जा सकता है। उनका कथन है

"बुद्धिमान् (गणक) को चाहिए कि (प्रत्येक भिन्न के) हर और अंश को दूसरे (भिन्न) के अपवर्तित हर से गुणा करे।'

**परिकर्माष्टक**

भिन्नो के परिकर्म भारतवर्ष मे बहुत प्राचीन काल मे ज्ञात थे, उनका सरल करने की वही रीति थी जो आजकल प्रचलित है। यद्यपि आर्यभट प्रथम ने सरल

[1] गणित सार-संग्रह पृ० ३३ (श्लोक ५६)।
[2] गणित-सार संग्रह पृ० ३३ (श्लोक ५६)।
[3] लीलावती पृ० ६।

परिकर्मों का उल्लेख नही किया है, तो भी यह दिखाने के प्रमाण है कि किसी भिन्न से भाग करने मे उसे उलट देने का नियम वे जानते थे। भिन्नो के सब परिकर्म बक्षाली हस्तलिपि मे मिलते हैं।

**सकलित और व्यवकलित**

इन परिकर्मों को करने के पहले भिन्नो का समच्छेद करते थे। श्रीधर का कथन है[1]

"भिन्नो का समच्छेद करके उनके अशो को जोड लो। पूर्णांक का हर एक होता है।"

ब्रह्मगुप्त और महावीर ने इस नियम को भाग-जाति के अन्तर्गत दिया है। महावीर ने सकलित के अन्तर्गत चयश्रेढी (अर्थात् समान्तर श्रेढी) और गुणश्रेढी के योग करने के नियम दिये है, और इस बात मे वे अन्य लेखको से भिन्न है।[2] बाद के लेखको ने श्रीधर का अनुकरण किया है।

**गुणन**

ब्रह्मगुप्त कहते है[3]

"अशो के गुणनफल को हरो के गुणनफल से भाग देना ही दो अथवा अधिक भिन्नो का गुणन है।"

अन्य लेखको के नियम भी ब्रह्मगुप्त के नियम के अनुरूप है। परन्तु महावीर ने क्रिया-लाघव की दृष्टि से वज्रापवर्तन विधि का भी उल्लेख किया है[4]

"भिन्नो का गुणन करने मे, पहले यदि सभव हो तो वज्रापवर्तन[5] कर लेने के बाद, अशो को अशो से और हरो को हरो से गुणा करना चाहिए।"

[1] त्रिशतिका, पृ० ७।

[2] देखिए गणित-सार सग्रह, पृ० २८ (श्लोक २२) आदि।

[3] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७३।

[4] गणित-सार-सग्रह, पृ० २४५ (श्लोक २)।

[5] वज्रापवर्तन-विधि के अनुसार

$$\frac{२}{३} \times \frac{६}{४} = \frac{१\ \cancel{२} \quad \cancel{६}\ २}{१\ \cancel{३} \quad \cancel{४}\ २} = \frac{२}{२} = १ ।$$

भाग

आर्यभटीय मे यद्यपि प्रारम्भिक परिकर्मों की चर्चा नही है तो भी त्रैराशिक के नियम के अन्तर्गत भिन्न के भाग करने की विधि का सकेत है। त्रैराशिक मे इच्छा-फल के लिए निम्नलिखित सूत्र है

$$\text{इच्छाफल} = \frac{\text{फल} \times \text{इच्छा}}{\text{प्रमाण}}$$

जब ये राशियाँ भिन्नात्मक होती है तब हमे इस प्रकार का इच्छाफल मिलता है

$$\frac{\frac{\text{अ}}{\text{ब}} \times \frac{\text{म}}{\text{द}}}{\frac{\text{क}}{\text{ख}}}$$

जिसका सरल करने के लिए आर्यभट ने निम्न नियम दिया है
"गुणकार और भागहार (के अशो) को एक दूसरे के हरो मे गुणा करना चाहिए।"[1]

जैसा आगे चलकर बतलाया जायगा, उपर्युक्त राशियो को निम्न प्रकार से लिखते है

| | |
|---|---|
| अ<br>ब | क<br>ख |
| म<br>द | |

हरो का पक्ष परिवर्तन करने पर हमे मिलता है

| | |
|---|---|
| अ<br>ख<br>म | ब<br>क<br>द |

गुणन करने पर, $\frac{\text{अ ख म}}{\text{ब क द}}$ प्राप्त होता है।

[1] आर्यभटीय पृ० ४३। परमेश्वर की टीका के अस्पष्ट होने के कारण पहले के लेखकों को कुछ भ्रम सा हो गया है। देखो क्लार्क (पृ० ४०) और सेनगुप्त (पृ० २५)।

आर्यभटीय का उपर्युक्त नियम टीकाकार सूर्यदेव और भास्कर प्रथम द्वारा दी गई व्याख्या के आधार पर है। सूर्यदेव का कथन है

"यहाँ पर 'गुणकार' का अर्थ है गुणक और गुण्य, अर्थात् फल और इच्छा-राशियों को आपस में गुणा करना चाहिए। 'भागहार' का अर्थ है प्रमाण-राशि। फल और इच्छा के हरो को प्रमाण के साथ लिया गया है। और प्रमाण के हर को फल और इच्छा के साथ लिया गया है। इनको गुणा करने पर, अर्थात् फल और इच्छा (के अंशों) तथा इस हर को, और उसे (अर्थात् उस गुणनफल को) प्रमाण के साथ स्थित अंको (के गुणनफल) में भाग देने पर, जो आता है वही इष्ट भिन्नो का भागफल होता है।"

ब्रह्मगुप्त[1] ने भाग करने की रीति को इस प्रकार दिया है

"भागहार के अंश और हर का परस्पर स्थान परिवर्तन करने के बाद, भाज्य के अंश को (भागहार के नये) अंश से और भाज्य के हर को (भागहार के नये) हर से गुणा करो, इस प्रकार दो सवर्णित भिन्नो का भाग किया जाता है।"

श्रीधर[2] ने गुणन की विधि के साथ-साथ निम्न नियम भी जोड़ दिया है:

"भागहार के अंश और हरो के परस्पर स्थान-परिवर्तन करने के बाद पूर्ववत् क्रिया, अर्थात् गुणन, करना चाहिए।

महावीर[3] ने उसी नियम को इस प्रकार व्यक्त किया है

"भागहार[4] के अंश को उसका हर (और हर को अंश) मानकर, वही क्रिया करनी चाहिए जो गुणन के लिए कही गई है।"

"अथवा[5], भागहार और भाज्य (के अंशो) को एक दूसरे के हरो मे गुणा कर देने पर जब (दोनो) गुणनफल छेद रहित हो जायँ, तब वह क्रिया करनी चाहिए जो पूर्ण संख्याओं[6] का भाग करने मे कही गई है।"

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त पृ० १७३।

[2] त्रिशतिका पृ० ८।

[3] गणित-सार-संग्रह पृ० २६ (श्लोक ८)।

[4] महावीर ने भागहार के लिए 'प्रमाण राशि' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे इस नियम का त्रैराशिक से सम्बन्ध प्रदर्शित होता है।

[5] इस नियम का कथन आर्यभट के नियम के सदृश है।

[6] मूल में 'सकल' शब्द का प्रयोग किया गया है।

**वर्ग और वर्गमूल**

ब्रह्मगुप्त[1] कहते हैं

"सवर्णित भिन्न के अश के वर्ग को हर के वर्ग से भाग देने पर (भिन्न का) वर्ग हो जाता है।"

"सवर्णित भिन्न के अश के मूल को हर के मूल से भाग देने पर (भिन्न का) वर्गमूल हो जाता है।"

अन्य ग्रन्थकारो ने भी यही नियम दिये हैं।

**घन और घनमूल**

श्रीधर[2] ने निम्नलिखित नियम दिया है

"अश के घन को हर के घन से भाग देने पर (भिन्न का) घन मिलता है, और अश के घनमूल को हर के घनमूल से भाग देने पर (भिन्न का) घनमूल मिलता है।"

अन्य लेखको ने भी यही नियम दिये हैं।

**एकांशक भिन्न[3]**

महावीर ने किसी दी हुई भिन्न को एक से अधिक एकांशक भिन्नो के जोड के रूप में परिवर्तित करने के बहुत से नियम दिये हैं। ये नियम नारायण की 'गणित कौमुदी' को छोडकर अन्य किसी ग्रथ मे नही मिलते, सभवत इसलिए कि वे महत्त्वहीन अथवा अनावश्यक समझे गये थे।

(१) १ को 'न' एकांशक-भिन्नो के जोड के रूप मे व्यक्त करना।

इसके लिये यह नियम है[4]

"बहुत सी एकांशक भिन्नो का योगफल १ होने पर उन भिन्नो के हर १ से आरम्भ होकर क्रमशः ३ के अनुपात मे बढने वाली संख्याएं होंगी, जिनमे से प्रथम और अन्तिम हरें क्रमशः २ और $\frac{2}{3}$ से भी गुणित होंगी।"

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७४।

[2] त्रिशतिका, पृ० ६।

[3] एकांशक भिन्न वे हैं जिनके अंश मे १ होता है। संस्कृत मे इनके लिए कोई पारिभाषिक शब्द नही है। महावीर ने ऐसी भिन्नो के लिए 'रूपांशक राशि' का प्रयोग किया है।

[4] गणित-सार-संग्रह, पृ० ३६ (श्लोक ७५)।

वीजत नियम यह है

$$१ = \frac{१}{२} + \frac{१}{३} + \frac{१}{३^२} + \quad + \frac{१}{३^{न-२}} + \frac{१}{२ \cdot ३^{न-२}}$$

(२) १ को एकाशक भिन्नो की विषम सख्या के जोड के रूप मे व्यक्त करना। इसके लिए यह नियम बताया गया है[1]

"जब एकाशक भिन्नो का योगफल १ होता है, तब उन (भिन्नो) की हरें २ मे आरम्भ होकर एक एक करके बढनेवाली सख्याये होती है, जो अपने आगे वाली सख्या तथा ½ मे गुणित होती है।"

अर्थात्

$$१ = \frac{१}{२\cdot३\cdot\frac{१}{२}} + \frac{१}{३\cdot४\cdot\frac{१}{२}} + \frac{१}{४\cdot५\cdot\frac{१}{२}} + \quad + \frac{१}{(२न-१)\,२न\,\frac{१}{२}} + \frac{१}{२न\,\frac{१}{२}}$$

(३) किसी दी हुई एकाशक भिन्न को अनेक भिन्नो के योग के रूप में व्यजित करना, जबकि प्रत्येक के अश दिये हुए है।

इसके लिए निम्नलिखित नियम है[2]

"(कई भिन्नो का) योग एकाशक भिन्न होने पर, उस एकाशक भिन्न का हर पहली भिन्न का (आशिक) हर होता है, उस (आशिक) हर मे अपने अश को जोड देने पर जो मिलता है वह दूसरी भिन्न का (आशिक) हर होता है (इत्यादि)। प्रत्येक (आशिक हर) को अगली (आशिक) हर मे तथा अन्तिम (आशिक हर) को अपने अश से गुणा करने पर (उन भिन्नो के वास्तविक हरो की प्राप्ति होती है)।"

अर्थात

$$\frac{१}{न} = \frac{अ_१}{न(न+अ_१)} + \frac{अ_२}{(न+अ_१)(न+अ_१+अ_२)} + \cdots$$

$$+ \frac{अ_{र-१}}{(न+अ_१+ \quad +अ_{र-२})(न+अ_१+ \quad +अ_{र-१})}$$

$$+ \frac{अ_र}{अ_र\,(न+अ_१+ \quad +अ_{र-१})}$$

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ३६ (श्लोक ७७)।

[2] गणित-सार-सग्रह, पृ० ३६ (श्लोक ७८)।

यदि हम $अ_{१}=अ_{२}= \quad =अ_{र}=१$ लें, तो सब भिन्नें एकांशक हो जायेंगी। परन्तु यदि $अ_{१}$, $अ_{२}$, इत्यादि १ से भिन्न ली जायें तो आवश्यक नहीं है कि सब भिन्नें अपने लघुरूप में हों।

(४) किसी दी हुई भिन्न को एकांशक भिन्नों के योग के रूप में व्यंजित करना।

इसके लिए यह नियम है[1]

"(दी हुई भिन्न के) हर में किसी ऐसी (कल्पित) संख्या को जोड़ दो कि योग-फल को अपने अंश से भाग देने पर शेष न बचे। (इस प्रकार) भाग देने से प्राप्त लब्धि पहले भिन्न की हर है, और इस हर तथा दी हुई (भिन्न की) हर द्वारा भाग की हुई कल्पित संख्या, शेष है। इस शेष पर से वही क्रिया करने पर अन्य भिन्नों की हरें प्राप्त होंगी।"

मान लो कि दी हुई भिन्न $\frac{क}{ख}$ है। यदि 'इ' ऐसी संख्या हो कि $\frac{ख+इ}{क}$ पूर्ण संख्या 'र' के तुल्य है, तो उपर्युक्त नियम के अनुसार

$$\frac{क}{ख}=\frac{१}{र}+\frac{इ}{र\,ख},$$

जिनमें से पहली भिन्न स्पष्ट एकांशक भिन्न है, अन्य एकांशक भिन्नों का ज्ञान करने के लिए दूसरी भिन्न पर वही क्रिया करनी चाहिए।

उपर्युक्त नियम के अनुसार प्राप्त की गयी भिन्न कल्पित संख्याओं पर निर्भर रहेगी।

(५) किसी दी हुई एकांशक भिन्न को अन्य एकांशक भिन्नों के योग के रूप में व्यंजित करना।

इसके लिए निम्नलिखित दो नियम दिये गये हैं[1]

वीजत नियम यह है

$$१ = \frac{१}{२} + \frac{१}{३} + \frac{१}{३^२} + \quad + \frac{१}{३^{न-२}} + \frac{१}{२\,३^{न-२}}$$

(२) १ को एकाशक भिन्नो की विषम सख्या के जोड के रूप मे व्यक्त करना।

इसके लिए यह नियम वताया गया है[1]

"जव एकागक भिन्नो का योगफल १ होता है, तव उन (भिन्नो) की हरे २ मे आरम्भ होकर एक एक करके वढनेवाली सम्याये होती है, जो अपने आगे वाली सख्या तथा ½ मे गुणित होती है।"

अर्थात्

$$१ = \frac{१}{२\cdot३\cdot\frac{१}{२}} + \frac{१}{३\cdot४\cdot\frac{१}{२}} + \frac{१}{४\cdot५\cdot\frac{१}{२}} + \quad + \frac{१}{(२न-१)\,२न\,\frac{१}{२}} + \frac{१}{२न\,\frac{१}{२}}$$

(३) किसी दी हुई एकाशक भिन्न को अनेक भिन्नो के योग के रूप मे व्यजित करना, जवकि प्रत्येक के अश दिये हुए हैं।

इसके लिए निम्नलिखित नियम है[2]

"(कई भिन्नो का) योग एकाशक भिन्न होने पर, उस एकागक भिन्न का हर पहली भिन्न का (आशिक) हर होता है, उस (आगिक) हर में अपने अश को जोड देने पर जो मिलता है वह दूसरी भिन्न का (आगिक) हर होता है (इत्यादि)। प्रत्येक (आशिक हर) को अगली (आशिक) हर मे तथा अन्तिम (आशिक हर) को अपने अश से गुणा करने पर (उन भिन्नो के वास्तविक हरो की प्राप्ति होती है)।"

अर्थात

$$\frac{१}{न} = \frac{अ_१}{न(न+अ_१)} + \frac{अ_२}{(न+अ_१)(न+अ_१+अ_२)} + \cdots\cdots$$
$$+ \frac{अ_{र-१}}{(न+अ_१+ \quad +अ_{र-२})(न+अ_१+ \quad +अ_{र-१})}$$
$$+ \frac{अ_र}{अ_र\,(न+अ_१+ \quad +अ_{र-१})}$$

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ३६ (श्लोक ७७)।

[2] गणित-सार-सग्रह, पृ० ३६ (श्लोक ७८)।

यदि हम $अ_1 = अ_2 = \quad = अ_र = १$ ले, तो सब भिन्नें एकाशक हो जायँगी। परन्तु यदि $अ_1$, $अ_2$, इत्यादि १ से भिन्न ली जायँ तो आवश्यक नही है कि सब भिन्ने अपने लघुरूप मे हो।

(४) किसी दी हुई भिन्न को एकाशक भिन्नो के योग के रूप मे व्यजित करना।

इसके लिए यह नियम है[1]

"(दी हुई भिन्न के) हर मे किसी ऐसी (कल्पित) सख्या को जोड दो कि योगफल को अपने अश मे भाग देने पर शेष न बचे। (इस प्रकार) भाग देने से प्राप्त लब्धि पहले भिन्न की हर है, और इस हर तथा दी हुई (भिन्न की) हर द्वारा भाग की हुई कल्पित सख्या, शेष है। इस शेष पर से वही क्रिया करने पर अन्य भिन्नो की हरे प्राप्त होगी।"

मान लो कि दी हुई भिन्न $\frac{क}{ख}$ है। यदि 'इ' ऐसी सख्या हो कि $\frac{ख+इ}{क}$ पूर्ण सख्या 'र' के तुल्य है, तो उपर्युक्त नियम के अनुसार

$$\frac{क}{ख} = \frac{१}{र} + \frac{इ}{र\,ख},$$

जिनमे से पहली भिन्न इष्ट एकाशक भिन्न है, अन्य एकाशक भिन्नो को ज्ञात करने के लिए दूसरी भिन्न पर वही क्रिया करनी चाहिए।

उपर्युक्त नियम के अनुसार प्राप्त की गयी भिन्नें कल्पित सख्याओ पर निर्भर रहेगी।

(५) किसी दी हुई एकाशक भिन्न को दो अन्य एकाशक भिन्नो के योग के रूप मे व्यजित करना।

इसके लिए निम्नलिखित दो नियम दिये गये है[2]

"(१) दी हुई भिन्न की हर को उपयुक्त[3] कल्पित सख्या से गुणा करने पर पहली (एकाशक) भिन्न का हर मिलता है, और उसे एकोन कल्पित सख्या से भाग करने पर दूसरी का (हर मिलता है)। अथवा (२) दी हुई भिन्न की

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ३७ (श्लोक ८०)।

[2] गणित-सार-सग्रह, पृ० ३७ (श्लोक ८५)।

[3] कल्पित सख्या ऐसी होनी चाहिए कि एकोन कल्पित सख्या से दी हुई भिन्न के हर का नि शेष भाग हो जाय।

हर के (निःशेष) भाजक तथा प्राप्त लब्धि को (अलग अलग) उनके योग मे गुणा करने पर दोनो (एकांशक भिन्नो की) हरें प्राप्त होती है।"

(६) किसी दी हुई भिन्न को दो अन्य भिन्नो के योग के रूप मे व्यजित करना, जबकि उन दो भिन्नो के अंश दिये हुये है।

इसके लिए यह नियम है[1]

"(पहली भिन्न के) अंश को किसी उपयुक्त कल्पित सख्या मे गुणा करके उस गुणनफल मे दूसरी भिन्न के अंश को जोड दो, और जोड की भिन्न के अंश से निःशेष भाग कर दो। लब्धि को कल्पित सख्या मे भाग करो और (लब्धि-स्वरूप) जो आवे उसे जोड की भिन्न की हर मे गुणा करो इस प्रकार जो मिलेगा वह (पहली भिन्न का) हर है। उसे कल्पित सख्या मे गुणा करने पर जो मिलेगा वह दूसरी भिन्न का हर है।"[2]

अर्थात्

$$\frac{म}{न} = \frac{क}{\frac{कर+ख}{म} \times \frac{न}{र}} + \frac{ख}{\frac{कर+ख}{म} \times \frac{न}{र} \times र}$$

इसका एक विशिष्ट रूप यह है

$$\frac{म}{न} = \frac{क}{\frac{कन+ख}{म}} + \frac{ख}{\frac{कन+ख}{म} \times न},$$

यदि (कन+ख) को म से भाग देने पर शेष न बचे।

(७) किसी दी हुई भिन्न को भिन्नो की समसख्या के योग के रूप मे व्यजित करना, जबकि उन भिन्नो के अंश दिये हुये है।

इसके लिए यह नियम है[1]

"दी हुई भिन्न को (पहले) उतनी एकांशक भिन्नो के योग के रूप में रक्खो जितने कि इष्ट भिन्नो के जोडे है। फिर उन एकांशक भिन्नो मे 'दी हुई भिन्न

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ३८ (श्लोक ८७)।
[2] कल्पित सख्या ऐसी होनी चाहिए कि दोनो भाग निःशेष हो।
[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ३८ (श्लोक ८९)।

को दो भिन्नो के योग मे रूपान्तरित करने की विधि मे' इष्ट भिन्नो के हरो का साधन करो।"

# १२ त्रैराशिक

## परिभाषा

त्रैराशिक शब्द ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो से देखने में आता है। इसका प्रयोग बक्षाली हस्तलिपि,[1] आर्यभटीय, तथा गणित के अन्य सभी ग्रंथो मे मिलता है। त्रैराशिक शब्द का अर्थ है 'तीन राशियाँ' अर्थात 'तीन राशियो से सम्बन्ध रखनेवाला नियम'। इस शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भास्कर प्रथम[2] ने कहा है "क्योकि इसमे (न्यास और करण के लिए) तीन राशियो की आवश्यकता पडती है, अतएव यह नियम त्रैराशिक ('तीन राशियो का नियम') कहलाता है।"

त्रैराशिक के प्रश्न का स्वरूप निम्न प्रकार का होता है

यदि 'प्र' में 'फ' मिलता है, तो 'इ' में क्या मिलेगा ?

यहाँ पर तीन राशियाँ है 'प्र', 'फ' और 'इ'। हिन्दू गणितज्ञ 'प्र' को प्रमाण, 'फ' को फल, और 'इ' को इच्छा कहते है। ये नाम हिन्दू गणित के सब ग्रंथो में मिलते है। कभी कभी इन्हे 'प्रथम', 'द्वितीय' और 'तृतीय' (राशि) भी कहा गया है। आर्यभट द्वितीय की सज्ञायें कुछ भिन्न है, क्योकि उन्होने 'प्र', 'फ' और 'इ' को क्रमानुसार 'मान', 'विनिमय' और 'इच्छा' कहा है। सभी गणितज्ञो ने लिखा है कि प्रथम और तृतीय राशियाँ सदृश, अर्थात् एक जाति की, होती हैं।"

## करण

आर्यभट प्रथम ने त्रैराशिक के प्रश्नो को हल करने के लिए निम्नलिखित नियम दिया है

"त्रैराशिक (के प्रश्नो) में फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करना चाहिए

[1] स्थानाग सूत्र (ल० ३०० ई० पू०) में विषयो की गणना करने में राशि शब्द का प्रयोग आया है (देखिए सूत्र ७४७)। कदाचित् वहाँ पर इस शब्द से त्रैराशिक, पचराशिक, सप्तराशिक इत्यादि से तात्पर्य है।

[2] अपने आर्यभटीय-भाष्य में।

१३

और प्राप्त गुणनफल को प्रमाणराशि से भाग देना चाहिए। इस प्रकार भाग करने से जो लब्धि प्राप्त होती है वही इच्छाफल है।"[1]

"गुणक और भागहार के (अंशो और) हरो को एक दूसरे मे गुणा करना चाहिए।"

ब्रह्मगुप्त का नियम इस प्रकार है

"त्रैराशिक मे प्रमाण, फल और इच्छा (नाम की तीन) राशियाँ होती है जिनमें से पहली और अतिम राशियाँ एक जाति की होती हैं। इच्छा को फल मे गुणा करने पर और उस गुणनफल को प्रमाण से भाग देने पर (इच्छा) फल मिलता है।"[2]

श्रीधर कहते हैं

"(त्रैराशिक की) तीन राशियो में से प्रमाण और इच्छा, जो एक जाति की हैं, आदि और अन्त की हैं, फल राशि, जो अन्य जाति की है, मध्य की है। मध्य और अन्तिम के गुणनफल को आदि से भाग देना चाहिए।"[3]

महावीर लिखते है

"त्रैराशिक में जब इच्छा और प्रमाण एक जाति के होते है, तब फल और इच्छा के गुणनफल को प्रमाण से भाग करने पर इच्छाफल मिलता है।"[4]

आर्यभट द्वितीय की पारिभाषिक शब्दावली मे कुछ अन्तर है। उनका कथन है

"पहली राशि को 'मान' कहते है, मध्य राशि को 'विनिमय' कहते है, और अन्तिम राशि को 'इच्छा' कहते हैं। पहली और अतिम राशियाँ एक जाति की होतीं हैं। 'मध्य' राशि को 'अन्तिम' राशि से गुणा करके गुणनफल को 'पहली' राशि से भाग देने पर (इच्छा) फल मिलता है।"[5]

भास्कर द्वितीय, नारायण और अन्य लेखको द्वारा दिये गये नियम ब्रह्मगुप्त और श्रीपति के नियमो के अनुरूप है।

[1] आर्यभटीय, गणितपाद, आर्या २७ (पूर्वार्ध)। उदाहरण १ को देखिए जिसमें हरो का आपस में परिवर्तन किया गया है। पृ० १८५ आदि भी देखिए।

[2] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७८।

[3] त्रिशतिका, पृ० १५।

[4] गणित-सार-सग्रह, पृ० ५८ (२)।

[5] महा-सिद्धान्त, पृ० १४९।

नीचे हम श्रीधर की त्रिशतिका से दो उदाहरण उद्धृत कर रहे हैं जिनसे त्रैराशिक की भारतीय करणविधि स्पष्ट हो जायगी

उदाहरण १. यदि एक पल और एक कर्ष चन्दन की लकडी १० पण में प्राप्त होती है, तो नौ पल और एक कर्ष (चन्दन की लकडी) कितने मे प्राप्त होगी ?[१]

यहाँ पर १ पल और १ कर्ष (= १$\frac{१}{४}$ पल) प्रमाण है, १०$\frac{१}{२}$ पण फल है, और ९ पल और एक कर्ष (= ९$\frac{१}{४}$ पल) इच्छा है। इन राशियो को निम्न प्रकार से लिखते हैं

| | | |
|---|---|---|
| १ | १० | ९ |
| १ | १ | १ |
| ४ | २ | ४ |

भिन्नो का सवर्णन करने पर, हमें यह मिलता है

| | | |
|---|---|---|
| ५ | २१ | ३७ |
| ४ | २ | ४ |

द्वितीय और तृतीय राशियो को गुणा करने पर, और प्रथम राशि से भाग देने पर, हमे यह मिलता है

| | |
|---|---|
| २१<br>२ | ५<br>४ |
| ३७<br>४ | |

$$\equiv \frac{\frac{२१}{२} \times \frac{३७}{४}}{\frac{५}{४}}$$

हरो का कोष्ठ परिवर्तन करने पर हमें यह मिलता है:

| | |
|---|---|
| २१ | ५ |
| ४ | २ |
| ३७ | ४ |

$$\equiv \frac{२१ \times ४ \times ३७}{५ \times २ \times ४} \text{ पण}$$

=४ पुराण, १३ पण, २ काकिणी, और १६ वराटक।

वास्तविक गणना में बीच का पद

$$\frac{\frac{२१}{२} \times \frac{३७}{४}}{\frac{५}{४}}$$

[१] त्रिशतिका, पृ० १५।

नही लिखा जाता था। गुणको के हरो को भाजक की ओर और भाजक के हर को गुणको की ओर स्थानान्तरित कर देते थे, और इस प्रकार तुरन्त ही

$$\frac{२१ \times ४ \times ३७}{५ \times ७ \times ४}$$

मिल जाता था।

**उदाहरण २.** आठ आठ मुक्ताओ वाले हारो मे मे छ छ मुक्ताओ वाले कितने हार बन सकते है ?[1]

यहाँ पर पहले यह त्रैराशिक हल करते है यदि १ हार मे ८ मुक्ता है तो २० हारो मे कितनी मुक्ता होगी ? अतएव इन राशियो को क्रम मे इस प्रकार लिखते हैं

| | | |
|---|---|---|
| १ | ८ | २० |

त्रैराशिक का नियम लगाने पर, मुक्ताओ की सख्या १६० आती है।

अब त्रैराशिक यह है यदि ६ मुक्ताओ का एक हार है, तो १६० मुक्ताओ में उस प्रकार के कितने हार होगे ? अतएव इन राशियो को क्रमानुसार इस प्रकार लिखते हैं

| | | |
|---|---|---|
| ६ | १ | १६० |

त्रैराशिक का नियम लगाने पर, हारो की निम्न सख्या आती है हार २६, हाराश

| |
|---|
| २ |
| ३ |

**व्यस्त त्रैराशिक**

त्रैराशिक का नियम बतलाने के बाद हिन्दू लेखको ने लिखा है कि जब अनुपात व्यस्त हो तब त्रैराशिक की क्रिया व्यस्त रीति से करनी चाहिए। इस प्रकार श्रीधर लिखते हैं

"त्रैराशिक व्यस्त होने पर मध्य-राशि को प्रथम राशि से गुणा करके अन्तिम राशि से भाग देना चाहिए।"[2]

[1] त्रिशतिका, पृ० १७।
[2] त्रिशतिका, पृ० १८।

महावीर कहते है

"व्यस्त (त्रैराशिक) मे विपरीत क्रिया करनी चाहिए।"[1]

भास्कर द्वितीय लिखते है

"विलोम (त्रैराशिक) मे व्यस्त क्रिया करनी चाहिए।"[2]

उन्होने यह भी लिखा है

"जब इच्छा की वृद्धि होने पर फल का ह्रास हो तथा इच्छा के ह्रास होने पर फल की वृद्धि हो, तब गणितकोविदो को समझना चाहिए कि त्रैराशिक व्यस्त है।"[3]

"जीवित प्राणियो की उम्र से उनका मूल्य निर्द्धारण करने मे, सुवर्ण के वर्ण से तौल निर्द्धारण करने मे, तथा राशियो के भागीकरण में[4] व्यस्त त्रैराशिक होता है।[5]

त्रैराशिक के अन्तर्गत दिये हुये उदाहरण २ को व्यस्त त्रैराशिक के नियम से भी हल किया गया है, यथा

"न्यास | ८ | २० | ६ | । फल— हार | २६ २ ३ | ।"

यहाँ पर त्रैराशिक व्यस्त है, क्योकि जब इच्छा राशि (अर्थात् हार की मुक्ताओं की सख्या) बढती है, तब फल (अर्थात् हारो की सख्या) घटती है।

**त्रैराशिक की प्रशसा**

त्रैराशिक की सरलता तथा साधारण प्रश्नो मे उसके प्रयोग की व्यापकता के कारण हिन्दुओ ने इसकी अत्यधिक प्रशसा की है। हिन्दुओ द्वारा बनाया हुआ त्रैराशिक का नियम इतना सीधा है कि अपढ व्यक्ति भी प्रश्नो को हल करने में निडर होकर इसका प्रयोग कर सकते हैं। वराहमिहिर ने लिखा है

"यदि सूर्य एक वर्ष में पृथ्वी की एक परिक्रमा करता है तो इष्ट दिनो में

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ५८ (श्लोक २)।

[2] लीलावती, पृ० १७।

[3] लीलावती, पृ० १७।

[4] 'अनाज की राशियाँ', जो छोटे परिमाण से नापी जा चुकी है, पुन: बडे परिमाण से नापी जाती है, तब माप-सख्या घट जाती है।' (सूर्यदास की टीका)

[5] लीलावती, पृ० १८।

कितनी परिक्रमाएँ करेगा? इस प्रकार की सूर्य-सवन्धी गणना को क्या अज्ञ व्यक्ति खडिया से रेखाएँ खीचकर नही कर सकता?"

भास्कर द्वितीय ने अपने ग्रथो मे अनेको स्थलो पर त्रैराशिक के नियम की प्रशसा की है। उन्होने लिखा है

"जिस प्रकार यह जगत्, जन्म-मरण के क्लेशो को हरने वाले तथा निखिल जगत् की सृष्टि के एकमात्र कारण, भगवान् श्रीनारायण के समस्त भुवन, भावन, पर्वत, नदी, सुर, नर और असुर इत्यादिक भेदो से व्याप्त है, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण गणित त्रैराशिक से व्याप्त है।"

"बीजगणित मे अथवा यहाँ पर (अकगणित मे) गुणन और भाग की विधि से जो कुछ भी गणना की जाती है, उसे निर्मलवुद्धि वालो को त्रैराशिक ही समझना चाहिए। प्रज्ञ विद्वानो ने इसी के भिन्न भिन्न भेदो को सुगम करके तथा प्रकीर्णादिक नाम देकर जो कुछ रचना की है वह केवल हम लोगो के सदृश मन्दवुद्धि वालो की वुद्धि को वढाने के हेतु है।"[1]

अन्य स्थान पर भास्कर द्वितीय कहते है

"वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल के अतिरिक्त जो कुछ गणना की जाती है वह सब त्रैराशिक का भिन्न भिन्न रूप है, कोई दूसरी वस्तु नही।"[2]

### पश्चिम के देशो में त्रैराशिक

त्रैराशिक सम्वन्धी हिन्दू नियमो के इतिहास से विदित होता है कि पश्चिम के लोग गणित के क्षेत्र में भारतवर्प के कितने ऋणी हैं। त्रैराशिक का नियम अरव तथा मध्यकालीन लेटिन लेखको के ग्रथो मे मिलता है। इन ग्रथो में भारतीय नाम 'त्रैराशिक' को ग्रहण किया गया है। यद्यपि राशियो के भारतीय नामो का परित्याग किया गया है, तो भी राशियो को एक पक्ति में लिखने तथा उन्हे इस प्रकार क्रमवद्ध करने की परिपाटी का कि प्रथम और अतिम राशियाँ एक जाति की हो ग्रहण किया गया है। इस प्रकार डिग्गेस (१५७२ ई०) कहते है[3] कि " अन्तिम सख्या को दूसरी से गुणा

[1] लीलावती, पृ० ७६।
[2] सिद्धान्त-शिरोमणि, गोलाध्याय, प्रश्नाध्याय, श्लोक ४।
[3] स्मिथ (पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० ४८८) द्वारा उद्धृत।

करो और गुणनफल को पहली सख्या से भाग दो।" "सख्याओ को स्थापन करने मे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रथम और अतिम सख्याएँ एक जाति की हो।" त्रैराशिक का नियम, जैसा पहले कहा जा चुका है, ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो मे बना था। अरब मे यह नियम सभवत आठवी शताब्दी मे पहुँचा और वहाँ से इसका पदार्पण यूरोप मे हुआ जहाँ पर इसकी अत्यधिक प्रशसा हुई[1] और इसे 'स्वर्ण नियम' की उपाधि से विभूषित किया गया।

### मिश्रानुपात

मिश्रानुपात को भारतीय गणित मे, प्रश्न मे प्रयुक्त राशियो की सख्या के अनुसार, पचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक इत्यादि सज्ञाएँ दी गई है, जो कि कभी कभी-'बहुराशिक'-सज्ञक सामान्य शीर्षक के अतर्गत वर्गीकृत किये गये हैं। आर्यभट प्रथम ने यद्यपि केवल त्रैराशिक के नियम का ही कथन किया है, तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त पारिभाषिक सज्ञाएँ और तत्सबधी नियम उनके समय में सुविख्यात थे। भास्कर प्रथम ने अपने आर्यभटीय-भाष्य मे जोर देकर लिखा है कि त्रैराशिक और मिश्रानुपात का भेद वास्तविक होने की अपेक्षा बनावटी अधिक है। वे कहते है

"आचार्य आर्यभट ने तो यहाँ पर केवल त्रैराशिक का वर्णन किया है, पचराशिक इत्यादि अनुपातविशेषो का ज्ञान कैसे किया जायगा? (समाधान मे) कहते है— आचार्य ने अनुपात के सिद्धान्त का उपदेश किया है, और अनुपात के सिद्धान्त की सहायता से पचराशिक इत्यादि सब सिद्ध हो जाते है। कैसे? क्योकि पचराशिक इत्यादि त्रैराशिको के समूह है। पञ्चराशिक इत्यादि त्रैराशिको के समूह किस प्रकार है? (क्योकि) पचराशिक में दो त्रैराशिक मिले है, सप्तराशिक मे तीन त्रैराशिक मिले हैं, नवराशिक में चार त्रैराशिक मिले है, इत्यादि। इसका स्पष्टीकरण उदाहरणो में किया जायगा।"[2]

[1] अरबो ने भी इस नियम को बडा महत्त्व दिया था, जो कि अलबेरूनी द्वारा 'फी राशिकात अल-हिन्द' ('हिन्दुओं के राशिक') नाम के स्वतन्त्र ग्रथ को लिखने से प्रकट होता है। इस ग्रथ में हिन्दुओ के त्रैराशिक तथा बहुराशिक के नियमो का वर्णन है। अलबेरूनी कृत इडिया (भाग १, पृ० ३१३) को भी देखिए जिसमें व्यस्त त्रैराशिक का एक उदाहरण दिया गया है।

[2] देखिए गणितपाद, श्लोक २६-२७ (पूर्वार्ध) की व्याख्या।

पञ्चराशिक, सप्तराशिक, इत्यादि के सम्बन्ध में इसी प्रकार के कथन लीलावती के टीकाकारो, विशेषकर गणेशदैवज्ञ और सूर्यदास, ने भी किये है।[1]

मिश्रानुपात के प्रश्नो मे राशियो के दो समूह दिये रहते हैं। पहिला समूह जिसमे सब राशियाँ रहती है, प्रमाण पक्ष कहलाता है, दूसरा समूह जिसमें एक राशि अज्ञात होती है, इच्छा पक्ष कहलाता है।

**विधि**

मिश्रानुपात के प्रश्नो को हल करने के लिए ब्रह्मगुप्त ने निम्न नियम दिया है·

"त्रैराशिक मे लेकर[2] एकादश राशिक तक मे फलो को एक पक्ष मे दूसरे पक्ष में ले जाने के बाद, अधिक राशियो वाले पक्ष के गुणनफल को कम राशियो वाले पक्ष के गुणनफल से भाग करने पर (इष्ट) फल की प्राप्ति होती है। दोनो पक्षो के सब भिन्नो के हरो का भी इसी प्रकार पक्षपरिवर्तन कर लेना चाहिए।"[3]

श्रीधर कहते है

"फल को एक पक्ष मे दूसरे पक्ष मे ले जाओ और (तब सब भिन्नो के) हरो का पक्ष परिवर्तन करो। इसके बाद दोनो पक्षो की राशियो को (अलग अलग) गुणा करो, और अधिक राशियो वाले पक्ष के गुणनफल को दूसरे पक्ष की राशियो के गुणनफल से भाग दे दो। (प्राप्त लब्धि इष्ट फल है)।"[4]

महावीर[5] और आर्यभट द्वितीय[6] के नियम श्रीधर के नियम के अनुरूप है। भास्कर द्वितीय का नियम इस प्रकार है

[1] यह बात कोलब्रुक ने लिखी है। देखिए पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० ३५, टिप्पणी।

[2] यह ध्यान देने योग्य है कि, जैसा कहा जा चुका है, त्रैराशिक का नियम बहुराशिक के नियम का ही एक विशिष्ट स्वरूप है। केवल ब्रह्मगुप्त ही एक ऐसे हिन्दू लेखक है जिन्होने त्रैराशिक को भी उपर्युक्त नियम में सम्मिलित कर लिया है। कुछ अरबी लेखको ने भी इस बात में उनका अनुकरण किया है और त्रैराशिक की राशियो को एक पक्ति में न लिखकर बहुराशिक के नियम के अनुसार उन्हे कोष्ठो में क्रमबद्ध किया है।

[3] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७८।

[4] त्रिशतिका, पृ० १६।

गणित-सार-सग्रह, पृ० ६२ (श्लोक ३२)।

[6] महासिद्धान्त, पृ० १५०, नियम २६ और २७ (कुछ अन्तर के साथ पुनरावृत्त)।

"पञ्चराशिक, सप्तराशिक, और नवराशिक इत्यादि मे फल और (उसके बाद) हरो (छिद्[1]) को एक पक्ष मे दूसरे मे ले जाकर, अधिक राशियो वाले पक्ष के गुणनफल को कम राशियो वाले पक्ष के गुणनफल से भाग करने पर (इष्ट) फल की प्राप्ति होती है।"[2]

नीचे हम लीलावती के एक उदाहरण को हल करके हिन्दू नियम की करणविधि का स्पष्टीकरण करेगे।

**उदाहरण**। "यदि १०० (निष्क) का १ महीने का व्याज ५ (निष्क) हो, तो १६ (निष्क) का १ वर्ष का व्याज क्या होगा? व्याज और मूलधन के ज्ञान मे समय, तथा समय और व्याज के ज्ञान मे मूलधन भी ज्ञात करो।"

व्याज निकालना—

प्रथम पक्ष है

१०० निष्क, १ महीना, ५ निष्क (फल)।

द्वितीय पक्ष है

१६ निष्क, १२ महीने, य निष्क।

दोनो पक्ष की राशियो को निम्न प्रकार से ऊर्ध्वाधर कोष्ठो[3] मे लिखते हैं—

| | |
|---|---|
| १०० | १६ |
| १ | १२ |
| ५ | ० |

[4]

[1] इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारो में मतभेद है। कुछ के मत से इसका अर्थ 'भाजक' अथवा 'हर' है और कुछ के मत से इसका अर्थ 'दूसरे पक्ष का फल' है। दोनो ही अर्थों से नियम शुद्ध है। तथापि, पहले अर्थ को लेने से भास्कर की व्याख्या उनके पूर्ववर्ती लेखको की व्याख्या से मेल खाती है। यह ध्यान देने योग्य है कि आर्यभट द्वितीय ने इस नियम को दो बार दिया है। पहली बार उन्होंने हरो के पक्ष परिवर्तन की बात नहीं कही है, परन्तु दूसरी बार ऐसा कहा है।

[2] लीलावती, पृ० १८।

[3] एक जाति की राशियों को पास के क्षैतिज कोष्ठों में लिखते है।

[4] राशियो को कोष्ठों में इसलिए लिखते है कि भिन्नो को लिखने में आसानी हो और इसलिए भी कि फलों का पक्ष-परिवर्तन कर देने के बाद पता चला सके कि किस पक्ष में अधिक राशियां है। कभी-कभी अज्ञात राशिवाला कोष्ठ खाली

ऊपर पहले पक्ष मे सबमे नीचे की राशि ५, प्रथम पक्ष का फल है, दूसरे पक्ष मे कोई फल नही है। फलो का पक्ष-परिवर्तन करने पर मिलता है

| | |
|---|---|
| १०० | १६ |
| १ | १२ |
| ० | ५ |

दूसरे पक्ष मे राशियो की सख्या अधिक है, और उनका गुणनफल ९६० है। कम राशियो वाले पक्ष की सख्याओ का गुणनफल १०० है। अतएव इष्ट $\frac{९६०}{१००} = \frac{४८}{५}$ अर्थात् ९$\frac{३}{५}$ है। हिन्दू लोग इसे इस प्रकार लिखते थे—

फल— | ४८ / ५ | अर्थात् निष्क ९, निष्क-भाग | ३ / ५ | ।

समय निकालना—

इस अवस्था मे दो पक्ष ये हैं

१०० निष्क, १ महीना, ५ निष्क,

और १६ निष्क, य महीना, $\frac{४८}{५}$ निष्क।

इन्हे पहले की भाँति स्थापित करने पर मिलता है

| | |
|---|---|
| १०० | १६ |
| १ | ० |
| ५ | ४८ / ५ |

छोड दिया जाता है जैसा कि (गवर्नमेन्ट सस्कृत लाइब्रेरी बनारस में सगृहीत) मुनीश्वर कृत पाटीसार की एक प्रति में मिलता है। जब राशियो को अलग-अलग कोष्ठो में लिखते है तब अज्ञात राशि या राशि के अभाव को सूचित करने के लिए ० चिह्न का प्रयोग अनावश्यक है। (एशियाटिक सोसायटी बगाल में सगृहीत) लीलावती की कुछ टीकाओ में राशियो को अलग-अलग कोष्ठो में नही लिखा गया है, परन्तु ऐसी अवस्थाओ में राशि के अभाव को ० चिह्न द्वारा सूचित किया गया है। पक्ष-परिवर्तन के बाद, जिस पक्ष में शून्य होता है उसमें दूसरे पक्ष की अपेक्षा अधिक राशियाँ होती है।

फलो का, अर्थात् सबसे नीचे के कोष्ठो की सख्याओ का पक्षान्तरण करने पर मिलता है

| | |
|---|---|
| १०० | १६ |
| १ | ० |
| ४८<br>५ | ५ |

हरो का पक्ष-परिवर्तन करने पर मिलता है

| | |
|---|---|
| १०० | १६ |
| १ | ० |
| ४८ | ५<br>५ |

यहाँ पर अधिक सख्याएँ पहले पक्ष मे है और उनका गुणनफल ४८०० है। दूसरे पक्ष की सख्याओ का गुणनफल ४०० है। अतएव इष्टफल है

$$\left|\frac{४८००}{४००}\right| \equiv \frac{४८००}{४००} = १२ \text{ महीने।}$$

मूलधन निकालना—

प्रथम पक्ष है :

१०० निष्क, १ महीना, ५ निष्क।

द्वितीय पक्ष है :

य निष्क, १२ महीने, $\frac{४८}{५}$ निष्क।

इन्हे पूर्ववत इस प्रकार लिखते हैं—

| | |
|---|---|
| १०० | ० |
| १ | १२ |
| ५ | ४८<br>५ |

फलो (अर्थात् सबसे नीचे वाले कोष्ठो की राशियो) का पक्ष-परिवर्तन करने पर मिलता है

| | |
|---|---|
| १०० | ० |
| १ | १२ |
| ४८<br>५ | ५ |

हरो का पक्ष-परिवर्तन करने पर मिलता है

| | |
|---|---|
| १०० | ० |
| १ | १२ |
| ४८ | ५<br>५ |

अधिक सख्याओ वाले पक्ष की सख्याओ के गुणनफल को कम सख्याओ वाले पक्ष की सख्याओ के गुणनफल से भाग देने पर मिलता है

$$\frac{४८००}{३००} = १६ \text{ निष्क।}$$

**त्रैराशिक, दशा-विशेष के रूप में**

ब्रह्मगुप्त के अनुसार उपर्युक्त नियम को त्रैराशिक मे भी प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणत, यदि हम त्रैराशिक के अन्तर्गत दिये हुये उदाहरण १ को लें, तो उसकी राशियो को इस नियम के अनुसार निम्न प्रकार मे लिखा जायगा—

| | |
|---|---|
| २१<br>२ | ० |
| ५<br>४ | ३७<br>४ |

[1]

फलो का पक्ष-परिवर्तन करने पर मिलता है

| | |
|---|---|
| २१<br>२ | ० |
| ३७<br>४ | ५<br>४ |

[1] यहां पर हम ५/४ पल चन्दन की लकडी को २१/२ पण (धन) का 'फल' मानते हैं। पिछले नियम के अनुसार हम २१/२ पण को 'फल' या मध्य-राशि मानने को बाध्य हैं, क्योकि 'प्रथम' और 'तृतीय' राशियां सजातीय कही गई हैं। यह देखा जायगा कि यहां दिये हुए प्रकारान्तर में तीनो राशियो में से कोई भी एक राशि 'फल' के रूप में ली जा सकती है।

हरो का पक्ष-परिवर्तन करने पर मिलता है—

| | |
|---|---|
| २१ | ०<br>२ |
| ३७<br>४ | ५<br>४ |

अतएव, इष्टफल है $\frac{२१ \times ३७ \times ४}{२ \times ५ \times ४}$, जो कि पहिले प्राप्त हुआ था।

यदि हम अज्ञात राशि सवन्धी राशियो को फल माने, तो राशियो को निम्न प्रकार स्थापित करना चाहिए—

| | |
|---|---|
| ५<br>४ | ३७<br>४ |
| २१<br>२ | ० |

इससे भी पहले की भाँति[1] $\frac{३७ \times ४ \times २१}{५ \times ४ \times २}$ फल मिलता है।

त्रैराशिक की उपर्युक्त करणविधि अरबो मे मिलती है[2], परन्तु भारतवर्ष मे ब्रह्मगुप्त के वाद इसके दर्शन नही होते। इससे सूचित होता है कि अरब वाले हिन्दू गणित-सवन्धी अपने ज्ञान के लिए ब्रह्मगुप्त के विशेष रूप से ऋणी है।

उपर्युक्त लेखनशैली को देखते हुए त्रैराशिक की करणविधि अनुपात के नियम के समान ही प्रतीत होती है। इसी प्रकार बहुराशिक का नियम भी यथोचित रीति से आधुनिक सकेत मे परिवर्तित किये जाने पर अनुपातमात्र ही है। स्मिथ[3] महोदय का कथन है कि हिन्दुओ की करणविधि "त्रैराशिक और अनुपात के सम्बन्ध

[1] अधिक राशियोवाले पक्ष की सख्याओं के गुणनफल को कम राशियोवाले पक्ष की सख्याओं के गुणनफल से भाग किया गया है। इस अवस्था में ० को राशि नहीं माना गया है। यह केवल अज्ञात राशि, अथवा अभाव का द्योतक है।

[2] उदाहरणत, रब्बी वेन एजरा ने ४७ ७=६३:य के स्थान में $\begin{matrix}४७ & ६३\\ ७ & ०\end{matrix}$ लिखा है। देखिए स्मिथ, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० ४८९ आदि।

[3] पूर्वोक्त ग्रथ, पृ० ४८८।

को स्वीकार नही करती।" इस कथन के पीछे पर्याप्त औचित्य नही प्रतीत होता, क्योकि उक्त करणविधियाँ अनुपात तथा राशि-परिवर्तन की भावना को दृष्टि मे रखकर ही बनाई गई है। हिन्दू ग्रथो का उद्देश्य ऐसा नियम प्रस्तुत करना है जो जनसाधारण द्वारा सुखपूर्वक प्रयोग किया जा सके। इसी कारण, ऐसी अवस्थाओ का भी कथन किया गया है जिनमे त्रैराशिक का व्यत्यास होता है। इस दृष्टि से देखने पर कि इसे विद्यार्थी को स्वय सोचने का मौका मिलता है कि नही, भारतीय नियम अवश्य ही दोषपूर्ण है, परन्तु व्यावहारिक उपयोग के लिए, हमारे मत से, इससे अच्छे नियम का सृजन नही किया जा सकता था।

## १३. व्यावसायिक प्रश्न

### प्राचीन भारत में व्याज

व्याज लेने की प्रथा बहुत प्राचीन है। भारतवर्ष में यह प्रथा निश्चित रूप से पाणिनि के समय से देखने मे आती है। पाणिनि ने "व्याज, भाडा, लाभ तथा दिये गये कर और उत्कोच" के सम्बन्ध मे प्रयुक्त अकसज्ञाओ में 'क' उपसर्ग के प्रयोग को प्रमाणित सिद्ध करते हुए नियम दिये है।[1] व्याज प्रत्येक महीने के बाद देय होता था, और व्याज की दर प्राय प्रतिशत थी,[2] यद्यपि सदैव यह बात न थी। व्याज की दर भिन्न भिन्न स्थानो और भिन्न भिन्न लोगो मे भिन्न-भिन्न थी परन्तु प्रतीत होता है कि १५ प्रतिशत प्रतिवर्ष का व्याज उचित समझा जाता था। चौथी शताब्दी ई० पू० मे विरचित कौटिल्य के अर्थशास्त्र में लिखा है "१$\frac{1}{4}$ पण प्रतिमास प्रतिशत का व्याज उचित है। ५ पण प्रतिशत प्रतिमास व्यावसायिक व्याज (की दर) है। १० पण प्रतिशत प्रतिमास वनो मे प्रचलित है। और २० पण प्रतिशत प्रतिमास समुद्री व्यापार मे प्रचलित है।"[3] गोतम-सूत्र का

[1] पाणिनि, अष्टाध्यायी, ५. १ २२, ४७, ४९।

[2] विभूतिभूषण दत्त ने दिखलाया है कि प्रतिशत की भावना का अभ्युदय भारतवर्ष में हुआ था। अमेरिकन मैथेमेटिकल मथली, जिल्द ३४, पृ० ५३०, में उनका लेख देखिए।

[3] अर्थशास्त्र, आर० शामशास्त्री द्वारा सपादित और अगरेजी में अनुवादित, मैसूर से प्रकाशित, ३, २, पृ० २१४।

कथन है "५ मापा प्रति-कार्पापण (१ कार्पापण=२० मापा) का व्याज उचित है।"[४]

### हिन्दू गणित में व्याज

अन्य वस्तुएँ दी रहने पर व्याज, मूलधन अथवा समय इत्यादि ज्ञात करने के साधारण प्रश्न पचराशिक के प्रकरण मे मिलते हैं। हिन्दू ग्रथो मे एक मिश्रक-व्यवहार नाम का प्रकरण होता है, जिसमे व्याज सम्बन्धी विविध प्रश्न दिये रहते हैं। इस प्रकरण के विषय भिन्न-भिन्न ग्रथो मे, उनके आकार और विस्तार के अनुसार, न्यूनाधिक हैं। उदाहरणत, आर्यभटीय मे व्याज के सम्बन्ध मे केवल एक नियम है, जब कि गणित-सार-सग्रह मे इस प्रकार के अनेक नियम और उदाहरण हैं।

### वर्ग-समीकरण पर प्रश्न

आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) ने निम्न प्रश्न को हल करने का नियम दिया है:

कुछ धन 'ध' (=१००) एक महीने के लिए व्याज पर दिया गया है (अज्ञात व्याज=य)। अज्ञात व्याज (य) समय 'स' (=६) के लिए व्याज पर दिया गया है। इस समय के बीतने पर मौलिक व्याज (य) और उस व्याज का व्याज मिलकर 'क' (=१६) के बराबर हो जाता है। धन 'ध' पर व्याज की दर (य) ज्ञात करना है।

इस प्रश्न मे समीकरण

$$\text{सय}^{2} + \text{धय} - \text{कध} = 0$$

को हल करना पडता है, जिससे हमे

$$\text{य} = \frac{-\text{ध}/2 \pm \sqrt{(\text{ध}/2)^{2} + \text{कधस}}}{\text{स}}$$

प्राप्त होता है।

करणी के पहले ऋण चिह्न लेने पर प्रश्न का हल नही प्राप्त होता, अतएव 'य' का उपयुक्त मान

$$= \frac{\sqrt{\text{कधस} + (\text{ध}/2)^{2}} - (\text{ध}/2)}{\text{स}}$$

[४] गोतम-सूत्र, १२. २६। २० माषा का १ कार्षापण होने के कारण, व्याज की दर १५ प्रतिशत प्रतिवर्ष होती है।

इस फल को आर्यभट प्रथम ने इस प्रकार वर्णन किया है

"मूलधन के व्याज तथा उस व्याज पर प्राप्त व्याज (के योग 'क') को समय (स) तथा मूलधन (ध) दोनो मे गुणा करो। उस (गुणनफल) मे मूलधन के आधे (ध/२) के वर्ग को जोड दो। (जो योगफल प्राप्त हो) उसका वर्गमूल निकालो। उस (वर्गमूल) मे से मूलधन के आधे (ध/२) को घटा दो, और (शेष को) समय (स) से भाग दे दो। जो (लब्धि) मिले, वही मूलधन (ध) का व्याज है।"[1]

ब्रह्मगुप्त ने अधिक व्यापक नियम दिया है। उनका प्रश्न यह है

मूलधन (ध) 'स₁' महीनो के लिए व्याज पर दिया गया है और उस मूलधन का अज्ञात व्याज (=य) स₂ महीनो के लिए उसी दर से व्याज पर दिया गया है, उस समय के बीतने पर मिश्रधन 'क' के तुल्य हो जाता है। 'य' का मान ज्ञात करना है।

यहां पर निम्न समीकरण बनता है

$$य^2 + \frac{धस_1}{स_2}य - \frac{कधस_1}{स_2} = 0,$$

जिसका हल है

$$य = \pm\sqrt{\frac{कधस_1}{स_2} + \left(\frac{धस_1}{2स_2}\right)^2} - \frac{धस_1}{2स_2}$$

करणी के ऋणात्मक मान से प्रश्न का हल नही प्राप्त होता, अतएव उसका त्याग कर दिया जाता है।

ब्रह्मगुप्त ने निम्न सूत्र दिया है

"मूलधन (ध) को (अपने) समय (स₁) से गुणा करो, और गुणनफल को) अन्य समय (स₂) से भाग दो। जो (लब्धि) मिले उसे दो स्थानो पर रक्खो। एक को मिश्रधन (क) से गुणा करो और (गुणनफल मे) दूसरे के आधे के वर्ग में जोड दो। उस (योगफल) का वर्गमूल निकालो। उस (वर्ग-

[1] आर्यभटीय, गणितपाद, श्लोक २५। इसमें मूलधन के लिए 'मूल' शब्द तथा व्याज के लिए 'फल' शब्द का प्रयोग किया गया है।

मूल) में दूसरे के आधे को घटा दो। (जो शेष बचे) वही मूलधन का व्याज (य) है।"[१]

अन्य प्रश्न

महावीर ने मिश्रक-व्यवहार मे दो अन्य प्रकार के प्रश्न दिये है, जिनमे युगपत् समीकरणो को हल करने की आवश्यकता पड़ती है। पहले प्रकार के प्रश्नो का एक नमूना यह है[२]

"६० (प्रमाण 'प्र') पर $१\frac{१}{३}$ महीने (समय 'स') का व्याज (फल 'फ') $७\frac{१}{२}$ है। (अज्ञात धन 'ध' पर अज्ञात समय 'सा' का) व्याज (फा) २४ है। समय (सा) और मूलधन (ध) का योग (म) ६० है। (समय 'सा' और मूलधन 'ध' क्या है) ?"

प्रश्न के अनुसार

$$\frac{\text{फ ध सा}}{\text{प्र म}} = \text{फा} \qquad (१)$$

$$\text{ध} + \text{सा} = \text{म} \qquad (२)$$

$$\therefore \quad \text{ध} - \text{सा} = \pm \sqrt{\text{म}^{२} - \frac{\text{प्र स}}{\text{फ}} \times ४\,\text{फा}}$$

$$\text{अतएव} \quad \text{ध} = \frac{१}{२}\left\{\text{म} \pm \sqrt{\text{म}^{२} - \frac{\text{प्र स}}{\text{फ}} \times ४\,\text{फा}}\right\}$$

महावीर ने इस फल का वर्णन निम्न प्रकार से किया है

"प्रमाण को समय तथा चतुर्गुणित व्याज से गुणा करो और अपने फल से भाग दो, और (प्राप्त लब्धि को) मिश्रधन के वर्ग मे घटा दो। उसके मूल को मिश्रधन में सक्रमण[३] करो (अर्थात् एक बार जोड कर और एक बार घटाकर आधा कर दो)।"[४]

[१] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त पृ० १८३। इस नियम को महावीर ने भी दिया है। देखो गणित-सार-सग्रह पृ० ७१ (श्लोक ४४)।

[२] गणित-सार-सग्रह पृ० ६९ (श्लोक ३२)।

[३] ख को क में सक्रमण करने का अर्थ है $\frac{\text{क} + \text{ख}}{२}$ और $\frac{\text{क} - \text{ख}}{२}$ के मान का ज्ञात करना।

[४] गणित-सार-सग्रह पृ० ६८ (श्लोक २९)। ध्यान देने योग्य है कि करणी के पूर्व के दोनो चिह्नो का प्रयोग किया गया है।

दूसरे प्रकार के प्रश्नो का एक नमूना यह है

"प्रतिशत (प्रमाण 'प्र'), प्रति १½ मास (समय 'म'), का अज्ञात दर (फल 'फ') के अनुसार, ३० (धन 'ध') का किसी अज्ञात समय (मा) मे ५ व्याज (फल 'फा') होता है। व्याज की दर (फ) और समय (मा) का योग (म) १२½ है। (व्याज की दर और समय ज्ञात करो)।"[1]

इसका हल निम्नलिखित है

$$\text{मा} = \frac{1}{2}\left\{ \text{म} \pm \sqrt{\text{म}^2 - \frac{\text{प्र म फा } 4}{\text{ध}}} \right\},$$

और

$$\text{फ} = \frac{1}{2}\left\{ \text{म} \mp \sqrt{\text{म}^2 - \frac{\text{प्र म फा } 4}{\text{ध}}} \right\}।$$

महावीर ने इसे इस प्रकार कहा है

"मूल (प्रमाण) को अपने समय से, फल से तथा ४ से गुणा करो और (गुणनफल को) अन्य मूल (धन) से भाग दो। इस प्रकार जो मिले, उसे मिश्र-धन के वर्ग से घटाकर शेष का वर्गमूल निकालो, और उसे मिश्रधन मे सक्रमण करो।"[2]

## व्याज सम्बन्धी विविध प्रश्न

पाटीगणित के हिन्दू ग्रथो म उपर्युक्त प्रश्नो के अतिरिक्त विविध प्रकार के अन्य मनोरजक प्रश्न मिलते है। उदाहरणत ब्रह्मगुप्त ने निम्नलिखित प्रश्न को हल किया है

**उदाहरण ।** धन 'ध', जिसका 'म' महीने का व्याज 'र' है, कितने समय मे अपने का 'क' गुना हो जायगा ?

इस प्रश्न को हल करने का नियम यह है

"प्रमाण (अर्थात् दिये हुए धन को) अपने समय से गुणा करो और व्याज

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ६९ (श्लोक ३४)।

[2] गणित-सार-सग्रह, पृ० ६९ (श्लोक ३३)।

की दर से भाग दे दो, और (जो मिले) उसे एकोन गुणक से गुणा कर दो। इस प्रकार से (इष्ट) काल प्राप्त होता है।"[1]

अर्थात्

$$\text{इष्ट समय} = \frac{\text{ध} \times \text{म}}{\text{र}} \times (\text{क}-१)\text{।}$$

गणित सार संग्रह (८५० ई०) में व्याज-सम्बन्धी अनेक प्रश्न हैं। उनमें से कुछ नीचे दिये जा रहे हैं

(१) "यहाँ (इस प्रश्न में) ($\text{ध}_1=$) ४०, ($\text{ध}_2=$) ३०, ($\text{ध}_3=$) २०, और ($\text{ध}_4=$) ५० मूलधन हैं, ($\text{स}_1=$) ५, ($\text{स}_2=$) ५, ($\text{स}_3$) = ३, और ($\text{स}_4=$) ६ (क्रमानुसार तत्सम्बन्धी) महीने हैं। उनके फलों (अर्थात् व्याजों) का योग ($\text{म}=$) ३४ है। (यदि व्याज की दर प्रत्येक अवस्था में एक ही हो, तो प्रत्येक धन का अलग अलग व्याज ज्ञात करो)।"[2]

मान लो कि १ का १ महीने का व्याज र है, तो

$$\text{र} = \frac{\text{फ}_1}{\text{ध}_1\,\text{स}_1} = \frac{\text{फ}_2}{\text{ध}_2\,\text{स}_2} = \frac{\text{फ}_3}{\text{ध}_3\,\text{स}_3} = \quad ,$$

जहाँ पर $\text{फ}_1, \text{फ}_2, \text{फ}_3,$ . क्रमानुसार $\text{ध}_1, \text{ध}_2, \text{ध}_3$ पर $\text{स}_1, \text{स}_2, \text{स}_3,$ महीनों के व्याज हैं।

अतएव

$$\frac{\text{फ}_1}{\text{ध}_1\text{स}_1} = \frac{\text{फ}_2}{\text{ध}_2\text{स}_2} = \frac{\text{फ}_3}{\text{ध}_3\text{स}_3} = \qquad = \frac{\text{फ}_1+\text{फ}_2+\text{फ}_3+}{\text{ध}_1\text{स}_1+\text{ध}_2\text{स}_2+\text{ध}_3\text{स}_3+}$$

$$= \frac{\text{म}}{\text{ध}_1\text{स}_1+\text{ध}_2\text{स}_2+\text{ध}_3\text{स}_3+}$$

अथवा
$$\text{फ}_1 = \frac{\text{म}\ \text{ध}_1\ \text{स}_1}{\text{ध}_1\text{स}_1+\text{ध}_2\text{स}_2+\text{ध}_3\text{स}_3+}, \text{ इत्यादि।}$$

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १८१।
[2] गणित-सार-संग्रह, पृ० ७० (श्लोक ३८)।

महावीर ने उपर्युक्त प्रश्न को हल करने के लिए यही सूत्र दिया है।[1]

(२) "१०, ६, ३, और १५ व्याज (के धन) है, ५, ४, ३ और ६ महीने हैं (जिनमे पूर्वोक्त व्याज के धन क्रमानुसार प्राप्त होते है), और (चारो) मूल-धनों का योग १४० है। (व्याज की दर हर अवस्था मे समान मान कर, चारो मूलधनो को अलग अलग ज्ञात करो)"[2]

(३) "यहाँ (इस प्रश्न मे) ४०, ३०, २० और ५० (क्रमानुसार चार) मूलधन है, १०, ६, ३ और १५ क्रमानुसार उनके व्याज है, और १८ उनके समयो का योग है। व्याज की दर समान मान कर, चारो समयो को अलग अलग ज्ञात करो।"[3]

(४) "८० का ३ महीने का व्याज अज्ञात है, (परन्तु यह पता है कि) यदि वह अज्ञात व्याज (उसी दर से) व्याज पर दे दिया जाय, तो १ वर्ष में वह ७$\frac{1}{5}$ हो जायगा। बताओ (अज्ञात) मूल और उसका व्याज कितना है।"[4]

(५) "(तीन) मिश्रधन क्रमश ५०, ५८ और ६६ है, तथा तत्सबधी समय क्रमश ५, ७ और ९ महीने हैं। (यदि प्रत्येक का मूलधन बराबर हो, तो) अलग अलग व्याज क्या है, ज्ञात करो।"[5]

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ७० (श्लोक ३७)। इस सूत्र से स्पष्ट है कि महावीर को निम्न परिणाम ज्ञात था

$$\frac{अ}{ब}=\frac{स}{द}=\frac{क}{ख}= \cdot =\frac{अ+स+क+}{ब+द+ख+}$$

[2] गणित-सार-सग्रह, पृ० ७० (श्लोक ४०)। इसका हल उसी पृष्ठ पर श्लोक ३९ में दिया है।

[3] गणित-सार-सग्रह, पृ ७० (श्लोक ४३)। इसका हल उसी पृष्ठ पर श्लोक ४२ में दिया है।

[4] गणित-सार-सग्रह, पृ० ७१ (श्लोक ४६)। यह आर्यभट के प्रश्न के सदृश है। ऊपर पृ० २०७ देखिए।

[5] गणित-सार-सग्रह, पृ० ७१ (श्लोक ४८)। इसको हल करने में सर्वसमिका

$$\frac{अ}{ब}=\frac{स}{द}=\frac{अ-स}{ब-द}$$

के प्रयोग की आवश्यकता पडती है।

(६) "(चार तुल्य धन ४ भिन्न भिन्न समयो के लिए व्याज पर दिये गये है।) समय और मूलधन का (अलग अलग) योग क्रमानुसार २१, २३ और २५ है, और व्याज क्रमानुसार ६, १० और १४ है। समान मूलधन क्या है ?"[१]

(७) "कुछ धन ६ प्रतिशत की दर से उधार लिया गया और ९ प्रतिशत की दर से उधार दे दिया गया। यदि ३ महीने मे इस लेन देन मे ८१ का लाभ हुआ, तो वह धन कितना है ?"[२]

(८) "६० का मासिक व्याज ५ है। (इस दर से उधार पर दिया गया) मूलधन ३५ है। यदि धन १५ की त्रैमासिक किस्तो (स्कन्धो) मे अदा कर दिया जाय तो बताओ कितने समय मे पूरा धन चुकता हो जायगा ?"[३]

(९) "तीन धन २, ६ और ४ प्रतिशत प्रतिमास की दर से व्याज पर दिये गये, और उनके मिश्रधनो का योग ४४०० है। यदि प्रत्येक धन से २ महीने मे बराबर व्याज मिलता हो, तो वे मूलधन कितने कितने है ?"[४]

(१०) "एक व्यक्ति (जिसने कुछ धन व्याज पर लिया है) प्रत्येक १२ दिन बाद $२\frac{३}{५}$ की एक किस्त (स्कन्ध) अदा करता है। यदि व्याज की दर ३ प्रतिशत प्रति मास हो और वह व्यक्ति १० महीने मे ऋण मुक्त हो जाय, तो मूलधन क्या है ?

(११) "तीन धन, जिनका योग ८५२० है, क्रमानुसार ३, ५ और ८ प्रतिशत (प्रति मास) की दर से व्याज पर दिये गये। अपने अपने मूलधन मे से ५ महीने का अपना अपना व्याज निकाल देने पर वे बराबर हो जाते है। (बताओ तीनो धन कितने कितने है) ?"[६]

(१२) "तीन धन, जिनका योग १३७४० है, क्रमानुसार २, ५ और ९ प्रतिशत

[१] गणित-सार-सग्रह, पृ० ७२ (श्लोक ५२)।
[२] गणित-सार-सग्रह, पृ० ७२ (श्लोक ५५)।
[३] गणित-सार-सग्रह, पृ० ७३ (श्लोक ५९)।
[४] गणित-सार-सग्रह, पृ० ७३ (श्लोक ६१)।
[५] गणित-सार-सग्रह, पृ० ७३ (श्लोक ६५)।
[६] गणित-सार-सग्रह, पृ० ७४ (श्लोक ६७)।

(प्रति मास) की दर से ४ महीने के लिए व्याज पर दिये गये। अपना अपना व्याज जोड देने पर वे धन तुल्य हो जाते हैं। (बताओ वे धन क्या है) ?"[1]

(१३) "किसी मनुष्य ने ५ प्रतिशत प्रतिमास की दर से कोई धन ऋण लिया जिसे वह प्रति $\frac{3}{2}$ महीने बाद किस्तो मे चुकाता है। पहली किस्त मे ७ देता है और आगे की किस्तो मे सात-सात की वृद्धि करके देता है (अर्थात् दूसरी मे १४, तीसरी मे २१, इत्यादि), सबसे बडी किस्त ६० है। इस प्रकार वह मनुष्य (७ आदि, ७ चय, और) $\frac{60}{7}$ पदोवाली श्रेढी के योग को मूलधन के रूप मे देता है, और उस मूल-धन पर एक किस्त का व्याज भी देता है। तो वह मूलधन और व्याज बताओ, यह भी बताओ कि वह मनुष्य कितने समय मे ऋण से मुक्त होता है।"[2]

**वस्तुओ का विनिमय**

विनिमय की हिन्दू पारिभाषिक सज्ञा 'भाण्ड-प्रति-भाण्ड' है। पाटीगणित के सभी हिन्दू ग्रथो मे वस्तुओ के विनिमय से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न मिलते है। इन ग्रथो मे इस बात का निर्देश रहता है कि विनिमय के प्रश्नो का आधार मिश्रानुपात है तथा वे पञ्चराशिक इत्यादि के नियमो की सहायता से हल किये जा सकते है। विनिमय के प्रश्नो का एक नमूना यह है

"यदि इस बाजार मे एक द्रम्म मे ३०० आम और एक पण मे ३० बढिया अनार मिलते है, तो हे मित्र! शीघ्र बताओ कि १० आमो के बदले मे कितने अनार मिलेगे।"[3]

**अन्य प्रकार के व्यावसायिक प्रश्न**

हिन्दू गणित के ग्रथो मे मिलनेवाले अन्य विविध प्रकार के व्यावसायिक प्रश्नो मे (१) साझा और समानुपातिक विभाग और (२) सुवर्ण के वर्ण की गणना से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न उल्लेखनीय है।[4] इन प्रश्नो मे से अधिकाश बीजात्मक है, परन्तु उनकी गणना पाटीगणित (अकगणित) मे की गई है। प्रश्नो को हल करने के नियम प्रश्नो के पूर्व आते है। ये नियम इतनी अधिक मात्रा मे है कि यहाँ पर उनका कथन नही किया जा सकता। तो भी नीचे दिये हुए उदाहरणो से उनके आकार-प्रकार के सम्बन्ध मे कुछ परिचय मिल जायगा

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ७४ (श्लोक ६९)।
[2] गणित सार-सग्रह, पृ० ७४-७५ (श्लोक ७२-७३)।
[3] लीलावती, पृ० २०।
[4] ऐसे उदाहरण लीलावती, गणित-सार-सग्रह, त्रिशतिका, इत्यादि में मिलते है।

(१) (नौ) बनियो ने क्रमानुसार १ से लेकर ९ तक धन लगाकर एक घोडा खरीदा, और उसे ४९५ मे वेच दिया। बताओ कि इस मिश्रधन मे प्रत्येक का कितना कितना हिस्सा है।

(२) किसी यजमान ने दीक्षा के अवसर पर चार मठो से, जिनमे बराबर बराबर छात्र थे, छात्रो को भोजन करने के लिए निमन्त्रित किया। परन्तु उन मठो से $\frac{१}{५}$, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{३}$ और $\frac{१}{४}$ छात्र भोजन के लिये आये। देखने मे आया कि यदि पृथक्-पृथक् मठों से आये हुए छात्रो की सख्याओ मे क्रमश १, २, ३ और ४ जोड दिये जायँ तो सब मिलाकर ८७ सख्या आती है, और यदि उनमे क्रमश १, २, ३ और ४ घटा दिये जायँ तो ६७ सख्या आती है। तो बताओ कि मठो की छात्र-सख्या क्या है तथा प्रत्येक मठ मे कितने कितने छात्र (भोजन के लिये) आये।

(३) "३२ पल, ६० पल, और २४ पल आयतनवाले तीन कलस क्रमश घृत, उदक् और मधु मे लबालब भरे हुए है। तीनो पदार्थों को एक में मिलाकर, उस मिश्र पदार्थ को उन घडो मे पुन भर दिया गया। घृत, उदक् और मधु की मात्रा किस (कलस) मे कितनी है, मुझे नही मालूम। बताओ प्रत्येक कलस मे उन (पदार्थों) की कितनी-कितनी मात्रा है।"[1]

(४) "किन्ही तीन बनियो ने साझे मे क्रय-विक्रय किया। पहले की पूँजी ६ पुराण है और दूसरे की ८ पुराण, तीसरे की (पूँजी) अज्ञात है। (क्रय-विक्रय मे) ९६ पुराणो का लाभ हुआ, जिसमे से अज्ञात पूँजीवाले को ४० पुराण मिले। हे मित्र! यदि तुम साझे (प्रक्षेप) की विधि को जानते हो तो गणित करके बताओ कि उस (तीसरे) ने कितनी पूँजी लगायी थी, तथा (अन्य) दोनो बनियो को कितना कितना लाभ हुआ।"[2]

(५) "चार बनिये थे। उनमें से प्रत्येक ने अपने धन का आधा अन्य (तीन बनियो मे से) प्रत्येक से ले लिया, और इस प्रकार उनके पास बराबर बराबर धन हो गया। बताओ प्रत्येक के पास पहले कितना धन था।"[3]

[1] इस उदाहरण और पिछले दो उदाहरणो को पृथूदकस्वामी ने ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त (गणिताध्याय, श्लोक १६) पर अपने भाष्य में दिया है।

[2] गणित-सार-सग्रह, पृ० ६४ (श्लोक २२३-५)।

[3] गणित-सार-सग्रह, पृ० ६६ (श्लोक २६७$\frac{१}{२}$)।

(६) 'मन्त्र और औषध की शक्ति से सम्पन्न किसी महापुरुष ने मुर्गों के युद्ध को होते देखकर दोनों मुर्गबाजों से गुप्त भाषा में मंत्रणा की। एक से कहा "यदि तुम्हारा मुर्गा विजयी हो तो तुम अपना धन मुझे दे देना, यदि तुम्हारी विजय न होगी तो मैं उस धन का $\frac{2}{3}$ भाग तुम्हें दे दूंगा।' दूसरे के पास जाकर (उसी प्रतिबन्ध पर) उसके धन का $\frac{3}{4}$ भाग देने की प्रतिज्ञा की। दोनों दशाओं में उसे १२ का लाभ हो सकता था। हे गणकमुखतिलक! बताओ कि उन मुर्गबाजों के पास कितना-कितना धन था।"[१]

(७) "९ मातुलुंग (बिजौरा नीबू) और ७ सुगंधित कैथों का मिश्रित मूल्य १०७ है, और ७ मातुलुंग और ९ सुगंधित कैथों का मिश्रित मूल्य १०१ है। हे गणक! मातुलुंग और कैथे के मूल्यों को अलग अलग करके मुझे शीघ्र बताओ।"[२]

(८) "'३ (पण) में ५ कबूतर, ५ (पण) में ७ सारस, ७ (पण) में ९ हंस, और ९ (पण) में ३ मयूर मिलते हैं। (जाओ इस दर से) राजकुमार के क्रीडार्थ १०० (पण) में १०० (पक्षियाँ) ले आओ।' यह कहकर कोई व्यक्ति (बाजार) भेज दिया गया है। बताओ वह किस (प्रकार की पक्षी को खरीदने) में कितना (धन) व्यय करेगा।"[३]

(९) "१ वर्णवाले (सुवर्ण) का १ भाग है, २ वर्णवाले का १ भाग, ३ वर्णवाले का १ भाग, ४ वर्णवाले के २ भाग, ५ वर्णवाले के ४ भाग, १४ वर्ण वाले के ७ भाग, और १५ वर्ण वाले के ८ भाग। इनको एक में मिलाकर अग्नि में पकाने पर मिश्रित सुवर्ण का क्या वर्ण होगा? और उस मिश्रित सुवर्ण को पूर्वोक्त भागों के मालिकों में विभाजित करने पर प्रत्येक को कितना कितना मिलेगा?"[४]

(१०) "२, ३ और ४ वर्णों के तीन तीन सुवर्ण हैं और १३ वर्ण के कुछ

[१] गणित-सार-संग्रह, पृ० ९९-१०० (श्लोक २७०$\frac{1}{2}$ – २$\frac{1}{2}$)।
[२] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८४ (श्लो० १४०$\frac{1}{2}$ – २$\frac{1}{2}$)।
[३] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८५ (श्लो० १५२ – ३)।
[४] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८८ (श्लो० १७० – १$\frac{1}{2}$)।

सुवर्ण है, मिश्रित सुवर्ण का वर्ण १० है। हे मित्र बताओ! (१३ वर्ण के अज्ञात) सुवर्णों की संख्या क्या है।"[1]

## १४ विविध प्रश्न

### इष्ट-कर्म

यह नियम अँगरेजी मे 'रेगुला फाल्सी' अथवा 'रूल ऑव फाल्स पोजीशन' के नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दू गणित की सभी पुस्तको मे यह नियम उपलब्ध है।[2] भास्कर द्वितीय ने इस नियम को विशेष महत्त्व दिया है और इसे 'इष्ट-कर्म' ("कल्पना का नियम") कहा है। उन्होने इसका निम्न प्रकार से वर्णन किया है

"किसी कल्पित संख्या को प्रश्न के कथनानुसार गुणा करना, भाग देना, घटाना अथवा जोडना चाहिए। दी हुई ('इष्ट') संख्या को कल्पित संख्या से गुणा करके उसे (उपर्युक्त विधि से प्राप्त) संख्या द्वारा भाग देना चाहिए। इस प्रकार इष्ट राशि की प्राप्ति होती है। यही इष्ट-कर्म कहलाता है।"[3]

श्रीधर ने कल्पित संख्या को एक मान लिया है।[4] महावीर ने विविध प्रकार के प्रश्नो मे इस नियम को प्रयोग किया है।[5] गणेश ने लीलावती पर अपनी टीका मे लिखा है "इस नियम मे केवल गुणा, भाग और भिन्न के परिकर्मों का प्रयोग करना होता है।" निम्नलिखित उदाहरणो से ऐसे प्रश्नो के आकार-प्रकार का स्पष्टीकरण हो जायगा जो कल्पना की विधि से हल किये जाते है।

[1] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८६ (श्लो० १८१)। इस प्रकार के उदाहरण त्रिशतिका (पृ० २६) और लीलावती (पृ० २५) में भी मिलते है।

[2] यह नियम भारतवर्ष में आविष्कृत हुआ और वहाँ से अरब होकर यूरोप को गया। एक मध्यकालीन हस्तलिपि में, जो लिब्री महोदय द्वारा इतुवार, १, ३०४ में प्रकाशित की गयी है तथा जो संभवत रब्बी बेन एजरा की कृति है, यह नियम हिन्दुओ को आरोपित किया गया है। अधिक विस्तार और उल्लेखो के लिए, देखिए स्मिथ, हिस्ट्री, जिल्द २, पृ० ४३७, फुटनोट १।

[3] लीलावती, पृ० १०।

[4] त्रिशतिका (पृ० १३) में स्तम्भोद्देशक का नियम देखो।

[5] ये प्रश्न गणित-सार-संग्रह के तृतीय और चतुर्थ अध्याय मे दिये गये है।

(१) 'निर्मल कमलों के जिस समूह के तृतीयांश, पंचमांश और षष्ठमांश से क्रमश शिव, विष्णु और सूर्य की, चतुर्थांश से पार्वती की, और शेष छ कमलों से गुरुचरणों की पूजा की गई, उस (कमल समूह) के सम्पूर्ण कमलों की संख्या शीघ्र बताओ।"[1]

(२) "हारवती स्त्री का मुक्ताहार सुरतिकलह मे टूट गया, उसका तृतीयांश भूमि पर गिरा, पंचमांश शयनतल पर दिखायी पड़ा, षष्ठमांश उस सुन्दर केशवाली स्त्री ने पकड लिया, और दशमांश उसके पति ने रोक लिया, छ मोतियाँ हार के डोरे मे देख पडी। हे गणक! बताओ वह हार कितनी मोतियों का था।"[2]

(३) "स्तम्भ के $\frac{1}{30}$ से गुणित स्तम्भ का $\frac{1}{20}$ जल मे स्थित है, शेष के $\frac{1}{16}$ से गुणित शेष का $\frac{1}{20}$ कीचड मे है, और (शेष) २० हाथ स्तम्भ आकाश मे है। हे मित्र! स्तम्भ की लम्बाई बताओ।"[3]

(४) 'भार के कारण झुकी हुई बालियो से सुशोभित धान के खेत मे कुछ तोते बैठे थे। मनुष्यो द्वारा डराये जाने से वे सहसा उड गये। उनका $\frac{1}{7}$ भाग पूर्व दिशा को गया, और $\frac{1}{6}$ भाग आग्नेय दिशा को। पूर्व और आग्नेय दिशाओ को गये हुए तोतो के अन्तर के अर्धोनभाग का अर्धोनभाग दक्षिण दिशा को गया, दक्षिण और आग्नेय दिशाओ को गये हुए तोतो के अन्तर का द्वि-पचोनभाग नैऋत दिशा को गया, दक्षिण और नैऋत दिशाओ को गये हुए तोतो के अन्तर के तुल्य तोते पश्चिम दिशा को गये, नैऋत और पश्चिम को गये हुए तोतो के अन्तर तुल्य तथा उसके $\frac{3}{4}$ तुल्य और तोते वायव्य दिशा को गये, वायव्य और पश्चिम को गये हुए तोतो के अन्तर तुल्य तथा उसके $\frac{7}{8}$ तुल्य और तोते उत्तर को गये, वायव्य और उत्तर को गये हुए तोतो के योग से उसका $\frac{3}{3}$ भाग घटाने पर प्राप्त शेष के तुल्य तोते ईशान दिशा को गये, और शेष २८० तोते (वहीं पर) आकाश मे (मँडराते हुए) देखे गये। बताओ सब तोते कितने थे।"[4]

[1] लीलावती, पृ० ११। तुलना कीजिए गणित-सार-संग्रह, पृ० ४८ (श्लो० ७)।

[2] त्रिशतिका, पृ० १४। इस उदाहरण को गणित-सार-संग्रह (पृ० ६९, श्लो० १७-२२) में दिये हुए उदाहरण से तुलना कीजिए।

[3] गणित-सार-संग्रह, पृ० ५५ (श्लो० ६०)। तुलना कीजिए, त्रिशतिका, पृ० १३।

[4] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८८ आदि (श्लो० १२-१६)।

**विलोम विधि**

यह विधि, जो विलोमगति ("उल्टा चलने की विधि") के नाम से विख्यात है, भारतवर्ष मे अत्यन्त प्राचीन काल से मिलती है। आर्यभट प्रथम ने इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है

"विलोम विधि मे गुणकार भागहार हो जाता है और भागहार गुणकार, जिसे जोडना है, वह घटाया जाता है और जिसे घटाना है, वह जोडा जाता है।"[1]

ब्रह्मगुप्त का वर्णन अधिक पूर्ण है। वे कहते है

"अत (मे दी हुई सख्या) से आरम्भ करके गुणा करने के स्थान मे भाग करो, भाग करने के स्थान मे गुणा करो, जोडने के स्थान मे घटाओ, घटाने के स्थान मे जोडो, वर्ग करने के स्थान मे वर्गमूल निकालो, और वर्गमूल निकालने के स्थान मे वर्ग करो। इस प्रकार क्रिया करने पर आरम्भ की राशि प्राप्त हो जाती है।"[2]

नीचे दिये हुए उदाहरणो मे विलोमविधि मे हल किये जाने वाले प्रश्नो के स्वरूप स्पष्ट हो जायँगे —

(१) "वह कौन सख्या है जिसे ७ से भाग देने पर, फिर ३ से गुणा करने पर, फिर वर्ग करने पर, फिर ५ जोड देने पर, फिर $\frac{3}{७}$ से भाग देने पर, और फिर आधा करके वर्गमूल लेने पर ५ प्राप्त होता है?"[3]

(२) "सूर्य के अशशेप को यदि ७ से भाग दे, फिर लब्धि का वर्गमूल निकाले, फिर वर्गमूल मे ८ घटाकर ९ से गुणा करे, और गुणनफल मे १ जोड दे, तो १०० मिलता है। यह परिस्थिति बुधवार के दिन कब होगी?"[4]

[1] आर्यभटीय, गणितपाद, श्लो० २८।

[2] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त पृ० ३०१। यह नियम गणित-सार-सग्रह (पृ० १०२, श्लो० २८६), महा-सिद्धान्त (पृ० १४९), लीलावती (पृ० ९), इत्यादि में भी मिलता है।

[3] गणित-सार-सग्रह, पृ० १०२ (श्लो० २८७)। इस प्रकार के उदाहरण हिन्दू अकगणित के ग्रथो में बहुतायत से मिलते हैं। यूरोप में भी वे सामान्य रूप से मिलते हैं। स्मिथ ने अपनी हिस्ट्री (भाग २) में ऐसे दो उदाहरण सोलहवीं शताब्दी में लिखी अमेरिकन अकगणित से उद्धृत किये हैं।

[4] कोलब्रुक, पूर्वोक्त पृ० ३३३ (१८)।

**मिश्रण सम्बन्धी प्रश्न**

पाटीगणित के हिन्दू ग्रंथों मे मिश्रक-व्यवहार नाम का एक अध्याय होता है जिसमे ब्याज-सम्बन्धी विविध प्रश्न, सुवर्ण की मिलावट मे सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न, तथा मिली हुई राशियों से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य विविध प्रकार के प्रश्न, (जिनमे उन राशियों को अलग करना होता है) और उनको हल करने के नियम दिये रहते हैं। अंकगणित के प्रारम्भिक इटैलियन ग्रंथों मे 'मिश्रण' (डे मेस्कोलो) पर एक अध्याय मिलता है, जिसका कारण स्पष्टतया हिन्दू प्रभाव है।[1]

इस अध्याय के कुछ प्रश्न निर्णयात्मक होते हैं और कुछ अनिर्णयात्मक। ब्याज और सुवर्ण सम्बन्धी कुछ प्रश्न पहले दिये जा चुके हैं[2], कुछ नीचे दिये जा रहे हैं

(१) "किसी वन के मध्य मे अनारो की तीन राशियो को ७ यात्रियो मे बराबर-बराबर बाँटने पर १ अनार शेष बचा, (वैसी ही) सात राशियो को ९ यात्रियो मे बाँटने पर ३ अनार शेष बचे, और (वैसी ही) पाँच राशियो को ८ यात्रियो मे बाँटने पर २ अनार शेष बचे। हे गणक! बताओ (प्रत्येक राशि मे) कितने अनार थे।"[3]

(२) "किसी पुरुष द्वारा कुछ आम घर लाने पर, उसके सबसे बडे लडके ने पहले १ आम और फिर शेष के आधे आम ले लिये। उसके चले जाने पर उससे छोटे लडके ने भी वैसा ही किया। शेष के आधे आमो को अन्य (तीसरे) लडके ने ले लिया। (बताओ वह मनुष्य कितने आम घर लाया था)।"[4]

(३) "एक जैनधर्मावलंबी (श्रावक पुरुष) सुगंधित कमलपुष्पो को लेकर चतुर्द्वारवाले जैन-मन्दिर को गया और वहाँ भक्तिपूर्वक पूजन किया। (मंदिर

[1] स्मिथ, हिस्ट्री, जिल्द २, पृ० ५८८, नोट ४।

[2] देखिए व्यावसायिक प्रश्न, पृ० २१६ आदि, समानुपातिक विभाग (प्रक्षेप-करण) के प्रश्न भी देखिए त्रिशतिका, पृ० २६, गणित-सार-संग्रह, पृ० ७५ (श्लो० ७९½), महा-सिद्धान्त, पृ० १५४-१५५।

[3] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८२ (श्लो० १२८½)। महावीर ने इस प्रकार के उदाहरण 'वल्लिका-कुट्टीकार' के अन्तर्गत दिया है।

[4] गणित-सार-संग्रह, पृ० ८२ (श्लो० १३१½)।

के) पहले द्वार पर पहुँचने पर पुष्पो की सख्या दुगनी हो गयी, दूसरे पर तिगुनी, तीसरे पर चौगुनी, और चौथे पर पँचगुनी। यदि सब द्वारो पर साठ साठ[1] पुष्प चढाये गये, तो पुष्पो की सख्या (आरम्भ मे) कितनी थी ?''[2]

(४) "एक मनुष्य के पास १६ इन्द्रनील-मणियाँ है, दूसरे के पास १० मरकत-मणियाँ है, और तीसरे के पास ८ वज्रमणियाँ है। तीनो मनुष्य अपनी अपनी मणियो मे से दो दो मणियाँ एक दूसरे को दे देते है, इस प्रकार उनका धन समाप्त हो जाता है। तो इन्द्रनीलमणि, मरकतमणि और वज्रमणि के मूल्य क्या क्या है ?''[3]

(५) "जो नालियाँ (कुल्य) अलग अलग खोली जाने पर एक वापी को क्रमानुसार १ दिन, $\frac{१}{२}$ दिन, $\frac{१}{४}$ दिन और $\frac{१}{५}$ दिन मे भर देती हैं वे एक साथ खोल दी जाने पर उस वापी को कितने समय मे भर देगी ?''[4]

**वर्ग-समीकरण पर प्रश्न**

वर्ग-समीकरण का हल भारतवर्ष मे आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) के समय से ज्ञात है। पीछे हम ब्याज के कुछ प्रश्न दे चुके है जिनमे वर्ग-समीकरण को हल करने की आवश्यकता पडती है। महावीर और भास्कर द्वितीय ने ऐसे अनेक प्रश्न दिये है। महावीर ने इन प्रश्नो को दो भागो मे विभाजित किया है (१) वे प्रश्न जिनमे अज्ञात राशि के वर्गमूल का कथन किया रहता है, और (२) वे जिनमे अज्ञात राशि के वर्ग का निर्देश रहता है। पहले प्रकार के प्रश्नो का केवल एक धनात्मक उत्तर आता है, जबकि दूसरे प्रकार के प्रश्नो के दो उत्तर आते है जो वर्गसमीकरण के दो मूलो से सगति रखते है। भास्कर द्वितीय ने अपने पाटीगणित के ग्रथ लीलावती मे पहले प्रकार के प्रश्नो को स्थान दिया है। दूसरे प्रकार के प्रश्नो को, जिनमे अज्ञात राशि के वर्ग का कथन होता है, बीजगणित मे रखा है। निम्न उदाहरणो से ऐसे प्रश्नो के स्वरूप स्पष्ट हो जायँगे

[1] छपी हुई पुस्तक में 'पञ्च' (पाँच) पाठ है। इस पाठ को स्वीकार करने पर इस प्रश्न का उत्तर ४३/१२ आता है, जो अयुक्त है। छपी हुई पुस्तक में कुछ और भी प्रश्न है जिनके अयुक्त उत्तर आते है। वे सब, हमारी समझ में, सपादक महोदय द्वारा प्रयुक्त हस्तलिपियो के दोष के कारण है। अतएव हमने उपर्युक्त पाठ को सशोधन करके 'षष्ठि' (साठ) कर दिया है।

[2] गणित-सार-सग्रह, पृ० ७६ (श्लो० ११२$\frac{१}{२}$-११३$\frac{१}{२}$)।

[3] गणित-सार-सग्रह, पृ० ८७ (श्लो० १६५-१६६)।

[4] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० १७७ (टीका), लीलावती, पृ० २३।

(१) "ऊँटो के एक झुड का चतुर्थांश जगल मे दिखाई दिया, उस (झुड) के वर्गमूल का दुगुना पर्वत की तराई को गया है, (शेष) १५ ऊँट नदी के तट पर विद्यमान है। उन ऊँटो की सख्या क्या है?"[1]

(२) "हाथियो के एक झुड के वर्गमूल का ५¼ गुना पर्वत की तराई मे रमण कर रहा है, शेष का ५/९ पर्वत-शिखर पर रमण कर रहा है, शेष के वर्गमूल का ५ गुना कमलो के वन मे रमण कर रहा है, शेष ६ हाथी नदी के तट पर रमण कर रहे है। (सब मिला कर) वे हाथी कितने है?"[2]

(३) "जन्तुरहित प्रदेश मे स्थित और नाना प्रकार के पेड पौधो मे सुशोभित उपवन मे बैठे हुए मुनियो के वर्गमूल तुल्य मुनि एक वृक्ष के नीचे योगावस्था मे है। शेष का १/१०, पुन शेष का वर्गमूल, पुन शेष का १/९, पुन शेष का वर्गमूल, पुन शेष का १/८, पुन शेष का वर्गमूल, पुन शेष का १/७, पुन शेष का वर्गमूल, पुन शेष का १/६, पुन शेष का वर्गमूल, पुन शेष का १/५, पुन शेष का वर्गमूल— ये उन (मुनियो) के अश है जो (क्रमश) काव्यशिक्षण, धर्मशास्त्र, तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र के विद्वान् है, जो वाद-विवाद, छन्द शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, मत्र-शास्त्र, अलकार शास्त्र, और शब्द शास्त्र (व्याकरण) के ज्ञाता है, जो १२ प्रकार की तपस्याओ के प्रभाव मे युक्त है तथा जो १२ प्रकार के अगशास्त्रो मे कुशल है।

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ५१ (श्लो० ३४)। यह प्रश्न 'मूल-जाति' का है और इसमें $य-(कय+ख\sqrt{य}+ग)=०$ की भाँति का समीकरण बनता है। इसे हल करने का नियम गणित-सार-सग्रह, पृ० ५० (श्लो० ३३) में वर्णित है।

[2] गणित-सार-सग्रह, पृ० ५२ (श्लो० ४६)। यह प्रश्न 'शेष-मूल' जाति का है। इसमें निम्न समीकरण बनता है

$$य-\frac{२१}{४}\sqrt{य}-\frac{५}{९}\left(य-\frac{२१}{४}\sqrt{य}\right)$$
$$-५\sqrt{\left\{य-\frac{२१}{४}\sqrt{य}-\frac{५}{९}\left(य-\frac{२१}{४}\sqrt{य}\right)\right\}}=६।$$

महावीर ने $र=य-\frac{२१}{४}\sqrt{य}-\frac{५}{९}\left(य-\frac{२१}{४}\sqrt{य}\right)$ कल्पना करके इसे समीकरण $र-५\sqrt{र}=६$ में परिणत कर लिया है। व्यापक परिस्थिति में इसी प्रकार का समीकरण पुन प्राप्त होता है, जिसे उसी स्वरूप में पुन परिणत कर लिया जाता है, इसी प्रकार बार बार परिणत करने पर अन्त मे $य-क\sqrt{य}=ख$ की भाँति का समीकरण प्राप्त होता है, जिसमे य का मान सरलता से निकल आता है।

इनके अतिरिक्त १२ मुनि और है। हे मुनिचद्र ! मुनियो की (उक्त) समिति की सख्या कितनी है ?"[1]

(४) "(भ्रमर-पुज का) एक भ्रमर आकाश मे देख पड़ा, शेष का $\frac{1}{5}$, पुन शेष का $\frac{1}{4}$, पुन शेष का $\frac{1}{3}$, तथा भ्रमर पुज के वर्गमूल तुल्य भ्रमर कमलो मे है, २ भ्रमर आम्र (के वृक्ष) पर है। सब (भ्रमर) कितने है ?"[2]

(५) "एक शूकर-समूह (क्रोडौघ) के आधे के वर्गमूल के चौगुने शूकरो ने चीतो से विक्रीडित वन मे प्रवेश किया, शेष के $\frac{1}{10}$ के वर्गमूल के ८ गुने शूकर पर्वत पर चढ गये, पुन शेष के आधे के वर्गमूल के ९ गुने नदी-तट (वप्र) पर पहुँचे, ५६ शूकर वन मे (अन्यत्र) देखे गये। उन (शूकरो) की सख्या बताओ।"[3]

(६) 'राजहसो के एक झुड का वर्गमूल और ६८ के सहित वही वर्गमूल—इन दोनो का जोड ३४ है। बताओ उस झुड मे कितने राजहस है।"[4]

(७) "रण मे क्रुद्ध होकर अर्जुन ने कर्ण को मारने के लिए बाण चलाये। आधे बाणो से उस (कर्ण) के बाणो का निवारण करके, (चलाये हुए समस्त बाणो के) वर्गमूल के चौगुने से उसके घोडो को मार डाला, तीन बाणो से (क्रमश )

[1] गणित-सार-सग्रह, पृ० ५२ (श्लो० ४२-४५)। यह प्रश्न भी उसी जाति का है जिस जाति का पूर्वगामी प्रश्न था। जो समीकरण इस प्रश्न के अनुसार बनेगा उसे सरल करने के लिए ६ बार उत्थापन करना पडेगा।

[2] गणित-सार-सग्रह, पृ० ५३ (श्लो० ४८)। यह प्रश्न द्विरग्र-शेष-मूल जाति का है।

[3] गणित-सार-सग्रह, पृ० ५४ (श्लो० ५६)। यह प्रश्न अश-मूल जाति का है, जिसमें वर्गमूल के भिन्नाशों का कथन किया जाता है। इस प्रश्न से निम्न प्रकार का समीकरण बनता है

$$य - क_1\sqrt{ख_1 य} - क_2\sqrt{ख_2 (य - क_1\sqrt{ख_1 य})}$$

$$- क_3\sqrt{ख_3 \left[(य - क_1\sqrt{ख_1 य}) - क_2\sqrt{ख_2 (य - क_1\sqrt{ख_1 य})}\right]} - \quad = च$$

बार-बार उत्थापन करके महावीर इसे निम्न स्वरूप के समीकरण मे परिणत करते है :

$$य - क\sqrt{खय} - छ = 0$$

[4] गणित-सार-सग्रह, पृ० ५६ (श्लो० ६८)। यह प्रश्न मूल-मिश्र जाति का है, जिसमें वर्गमूलो के योग का कथन किया जाता है। इससे निम्न प्रकार का समीकरण बनता है,

$$\sqrt{य} + \sqrt{य + द} = म।$$

छत्र, ध्वजा और धनुष का खंडन किया, और एक बाण से उसका सिर काट दिया। (बताओ) अर्जुन ने कितने बाण चलाये?"[1]

(८) "भ्रमर-समूह के आधे के वर्गमूल तुल्य भ्रमर मालती-वृक्ष की ओर गये है, उसी ओर समस्त भ्रमरो के $\frac{८}{९}$ भी गये है। एक भ्रमरी उस भ्रमर के गुंजन को प्रतिध्वनित कर रही है, जो रात्रि मे परिमल के लोभ मे वशीभूत होकर कमल के अन्दर बन्द हो गया था (और अब अन्दर ही अन्दर गुंजन कर रहा है)। हे सुन्दरी! भ्रमरो की संख्या बताओ।"[2]

**अज्ञात राशि के वर्ग पर प्रश्न**

(९) "स्तम्भ के $\frac{१}{३०}$ से गुणित स्तम्भ का $\frac{१}{१२}$ जल मे स्थित है, शेष के $\frac{३}{१६}$ से गुणित शेष का $\frac{१}{२०}$ कीचड मे है, और (शेष) २० हाथ स्तम्भ आकाश मे है। हे मित्र! स्तम्भ की लंबाई बताओ।"[3]

(१०) "हाथियो के झुड के दशमाश मे २ घटाकर जो संख्या प्राप्त हो उसे उसी संख्या से गुणा करो, इस प्रकार जो संख्या प्राप्त होती है उतने हाथी सल्लकी वन मे क्रीडा कर रहे है, (शेष) ३६ हाथी पर्वत पर विचरण कर रहे है। (बताओ सब) हाथी कितने है?"[4]

## १५ शून्य-गणित

यह दिखाया जा चुका है कि ईसवी सन् के आरम्भ के लगभग भारतवर्ष मे शून्य का आविष्कार किया गया था जिससे कि अंको को दस के आधार पर लिखने

[1] लीलावती, पृ० १६।

[2] लीलावती, पृ० १६।

[3] गणित-सार-संग्रह, पृ० ५५ (श्लो० ६०)। इस प्रश्न से निम्न समीकरण मिलता है

$$\left(य - \frac{य^२}{१२ \times ३०}\right) - \frac{१ \times ३}{२० \times १६}\left(य - \frac{य^२}{१२ \times ३०}\right)^२ = २०,$$

जो इष्ट-कर्म से भी हल हो सकता है। महावीर ने $य - \frac{य^२}{१२ \times ३०} = र$ रखा है, और तब समीकरण $र - \frac{३}{३२०} र^२ = २०$ को हल किया है। इसके अनन्तर य के मान निकालने के लिए इस समीकरण के मूलो का प्रयोग किया जाता है।

[4] गणित-सार-संग्रह, पृ० ५५ (श्लो० ६३)।

में सुविधा हो। हिन्दू मस्तिष्क को तब तक चैन नही मिला जब तक शून्य सम्बन्धी सम्पूर्ण गणित का विकास नही हो गया। शून्य की गणना हिन्दू लोग अको मे करते थे और बक्षाली हस्तलिपि के मूल की रचना के समय (ल० ३०० ईसवी मे) वे लोग अपनी अकगणित मे उसका प्रयोग करते थे। शून्य को जोडने और घटाने के परिकर्मों का उल्लेख प्रसगवश वराहमिहिर (ल० ५५० ई०) की पच-सिद्धान्तिका मे हुआ है। दशमलव गणित का सर्वस्व भास्कर प्रथम (६२९ ई०) के आर्यभटीय-भाष्य मे उपलब्ध है। शून्य परिकर्म के निष्कर्ष ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) तथा अन्य परवर्ती लेखको की कृतियो में सगृहीत है। हिन्दुओ की अकगणित मे मिलने वाला शून्य गणित का विवेचन उनके बीजगणित के विवेचन से भिन्न है। इस भेद को पूर्णतया स्पष्ट करने के लिए नीचे हम पाटीगणित (अकगणित) और बीजगणित मे मिलने वाले शून्य सम्बन्धी निष्कर्षों को अलग-अलग उपस्थित करेंगे।

### अकगणित में शून्य

अकगणित मे हिन्दुओ ने शून्य की परिभाषा इस प्रकार दी है

$$अ - अ = ०$$

यह परिभाषा ब्रह्मगुप्त के ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त मे मिलती है।[1] बाद के सब ग्रथो मे भी इसी को दोहराया गया है। घटाने मे इस परिभाषा का सीधा प्रयोग होता है। अकगणित के परिकर्मों को करने मे यह जानना आवश्यक होता है कि किसी सख्या मे शून्य को जोडने या घटाने से, अथवा शून्य मे किसी सख्या को जोडने या घटाने से, अथवा शून्य को किसी सख्या से गुणा या भाग करने से, अथवा शून्य मे किसी सख्या को गुणा या भाग करने से क्या परिणाम मिलता है। हिन्दू लोग अकगणित मे शून्य द्वारा किये गये भाग को वैध नही मानते, परन्तु शून्य को किसी अन्य सख्या द्वारा किये गये भाग को वैध मानते है। नारायण ने अपनी पाटीगणित (अकगणित) मे इस भेद को स्पष्टतया बतलाया है। वे कहते है

"यहाँ, पाटीगणित मे, ख हर का प्रयोग करने से लोक-व्यवहार मे इसका प्रमाण

[1] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० ३०९। शून्य-परिकर्म सम्बन्धी विस्तृत विवरण के लिए देखिए, विभूतिभूषण दत्त, बुलेटिन कलकत्ता मैथेमेटिकल सोसायटी, जिल्द १८, पृ० १६५-१७६।

नही माना जाता, अतएव यहाँ ख-हर का प्रयोग नही किया गया है। बीजगणित मे इसका व्यवहार होने के कारण, हमने अपनी बीजगणित मे ख-हर का कथन किया है।"[1]

नीचे हम पाटीगणित के हिन्दू ग्रथो मे बतलाये गये शून्य-परिकर्म सम्बन्धी निष्कर्षो को दे रहे है

श्रीधर कहते है

"यदि शून्य मे किसी सख्या को जोड दे तो योगफल जोडी हुई सख्या के तुल्य मिलता है। यदि किसी सख्या मे शून्य को जोड दे या घटा दे तो उस सख्या मे कोई परिवर्तन नही होता। यदि शून्य को गुणा इत्यादि[2] करे तो फल शून्य ही मिलता है। यदि किसी सख्या को शून्य से गुणा करे तो भी गुणनफल शून्य ही मिलता है।"[3]

आर्यभट द्वितीय अपने महा-सिद्धान्त मे पाटीगणित नामक अध्याय मे लिखते है

"यदि किसी सख्या मे शून्य को जोड दे तो उस सख्या मे कोई विकार नही होता, शून्य को घटाने पर भी यही बात होती है। शून्य को गुणा, भाग, वर्ग, इत्यादि करने पर फल शून्य मिलता है।"[4]

नारायण अपनी पाटीगणित मे कहते है

"यदि किसी सख्या मे शून्य को जोड या घटा दे तो उस राशि मे कोई परिवर्तन नही होता। यदि किसी राशि को शून्य से गुणा करे तो गुणनफल शून्य मिलता है, यदि शून्य को किसी सख्या से गुणा करे तो भी गुणनफल शून्य मिलता है। यदि शून्य मे कोई सख्या जोड दे तो योगफल जोडी हुई सख्या के तुल्य आता है।"

[1] गणित-कौमुदी, प्रकरण १, श्लो० ३० की टीका।

[2] इत्यादि से तात्पर्य है (१) शून्य को किसी सख्या से भाग देने से, (२) शून्य का वर्ग करने या वर्गमूल निकालने से, और (३) शून्य का घन करने या घनमूल निकालने से, जो कि हिन्दू गणित के ग्रथो में परिकर्म के कथन का क्रम है।

[3] त्रिशतिका, पृ० ४। ध्यान देने की बात है कि अ × ० और ० × अ में भेद किया गया है, यद्यपि दोनो परिस्थितियो में गुणनफल शून्य है।

[4] महासिद्धान्त, पृ० १४६।

[5] गणित-कौमुदी, प्रकरण १, श्लो० ३०।

महावीर अपने गणित-सार-संग्रह में लिखते हैं

"यदि किसी संख्या को शून्य से गुणा करे तो गुणनफल शून्य मिलता है॥ यदि किसी संख्या को शून्य से भाग दे या उसमें शून्य को जोड या घटा दे तो उस संख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता। यदि शून्य को किसी संख्या से गुणा करे तो गुणनफल शून्य मिलता है, और यदि शून्य में कोई संख्या जोड दे तो योग जोडी हुई संख्या के तुल्य आता है।"[1]

महावीर का कथन कि शून्य से भाग देने पर भाग दी हुई संख्या में परिवर्तन नहीं होता है स्पष्टतया अशुद्ध है। इसका शुद्ध उत्तर महावीर से तीन शताब्दी पहले के गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त को विदित था। अतएव आश्चर्य की बात है कि महावीर ने इस प्रकार का अशुद्ध कथन किया है। संभव है कि जहाँ तक अंकगणित का संबंध है वे शून्य द्वारा किये गये भाग को भाग ही न समझते हो।

## बीजगणित में शून्य

बीजगणित में शून्य की चर्चा सबसे पहले ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त[2] (६२८ ई०) में मिलती है

"ऋणात्मक संख्या में शून्य घटाने पर शेष ऋणात्मक मिलता है, धनात्मक संख्या में शून्य घटाने पर शेष धनात्मक मिलता है, शून्य में शून्य घटाने पर शून्य मिलता है।"

"शून्य और ऋणात्मक संख्या, शून्य और धनात्मक संख्या, तथा शून्य और शून्य, प्रत्येक का गुणनफल शून्य है।"

"शून्य को शून्य से भाग देने का फल शून्य है। ऋणात्मक अथवा धनात्मक संख्या को शून्य से भाग देने का फल 'तच्छेद' (ऐसी भिन्न जिसका वही हर हो), शून्य को ऋणात्मक अथवा धनात्मक संख्या से भाग देने का (फल शून्य है अथवा वह भिन्न है जिसका अंश शून्य है और हर ऋणात्मक अथवा धनात्मक संख्या)।"[3]

[1] गणित-सार-संग्रह, पृ० ६ (श्लो० ४९)।

[2] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त, पृ० ३०९-३१०, नियम ३१-३५। इन नियमो में धनात्मक और ऋणात्मक संख्याओ के परिकर्मों के नियम भी सम्मिलित हैं। यहाँ पर केवल शून्य सम्बन्धी नियमो का कथन किया गया है।

[3] परिकर्म का फल जो ब्रैकेट में दिया हुआ है सुधाकर द्विवेदी की व्याख्या के अनुसार है।

भास्कर द्वितीय ने लीलावती तथा अपनी बीजगणित में शून्य-परिकर्म सबन्धी निष्कर्षो का कथन किया है। लीलावती मे वे लिखते है,

"शून्य मे किसी सख्या को जोडने पर योगफल जोडी हुई सख्या के तुल्य आता है। शून्य का वर्ग इत्यादि (अर्थात वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल) करने पर भी फल शून्य मिलता है। किसी सख्या को शून्य से भाग देने पर हर मे शून्य हो जाता है। किसी सख्या को शून्य से गुणा करने पर गुणनफल शून्य होता है, परन्तु बाद मे यदि और परिकर्म करने है तो (गुणनफल को शून्य न लेकर) शून्य को गुणक की तरह रखना चाहिए। यदि किसी सख्या का गुणक शून्य हो और हर भी शून्य हो तो समझना चाहिए कि उस सख्या मे कोई परिवर्तन नही हुआ। इसी प्रकार शून्य को जोडने या घटाने पर भी सख्या मे कोई परिवर्तन नही होता।"[1]

बीजगणित मे भी यही निष्कर्ष दिये गये है। साथ-साथ यह भी बतलाया गया है कि जब कोई राशि शून्य मे घटायी जाती है तब उसका चिह्न बदल जाता है, परन्तु जोडने मे चिह्न वही रहता है।

### परमाल्प राशि के रूप में शून्य

ध्यान देने योग्य है कि परिकर्म य — ० और परिकर्म ० — य के फलो को ब्रह्मगुप्त क्रमानुसार $\frac{य}{०}$ और $\frac{०}{य}$ की भाँति लिखने को कहते है। निश्चित रूप से कहना कठिन है कि इन स्वरूपो मे उनका क्या तात्पर्य था। सभव है कि चलराशि 'य' का मान न ज्ञात होने से उन्होने इन स्वरूपो का निश्चित मान निर्धारित नही किया। फिर भी, प्रतीत होता है कि उन्होने शून्य को ऐसी परमाल्प सख्या के रूप मे माना जो कि अन्ततोगत्वा शून्य मे विलीन हो जाती है। यदि यह अनुमान सत्य हो, तो ब्रह्मगुप्त ने उक्त कथन करके उचित ही किया।

परमाल्प सख्या के रूप मे शून्य की कल्पना भास्कर द्वितीय के ग्रथो मे अधिक स्पष्ट है। वे कहते है "किसी सख्या को शून्य से गुणा करने पर गुणनफल शून्य होता है, परन्तु बाद में यदि और परिकर्म करने है तो (गुणनफल को शून्य न लेकर) शून्य को गुणक की तरह रखना चाहिए।" उन्होने आगे कहा है कि यह परिकर्म ज्योतिष की गणना में अत्यन्त महत्व का है। कलन के अध्याय मे दिखाया जायगा कि भास्कर द्वितीय ने ऐसी राशियो को वस्तुत प्रयुक्त किया है जो

[1] लीलावती, पृ० ८।

अन्ततोगत्वा शून्य हो जाती है, कुछ फलनो के अवकल गुणको का मान निकालने मे भी वे सफल हुए है। उन्होने फलन फ(य) के अवकल गुणक फ'(य)δ(य) का भी प्रयोग किया है, जो कि 'य' मे δ(य) के तुल्य क्षयवृद्धि होने मे होता है।

टीकाकार कृष्ण ने

$$0 \times अ = 0 = अ \times 0$$

को इस प्रकार से सिद्ध किया है

"जैसे-जैसे गुण्य कम किया जायगा, वैसे-वैसे गुणनफल भी कम होता जायगा। । यदि गुण्य को परमाल्प कर दिया जाय, तो गुणनफल भी परमाल्प हो जायगा। परन्तु परमाल्प होने का अर्थ शून्य होना है, अतएव यदि गुण्य शून्य हो, तो गुणनफल भी शून्य होगा। । इसी प्रकार, जैसे-जैसे गुणक कम किया जायगा, वैसे-वैसे गुणनफल भी कम होता जायगा, और गुणक के शून्य हो जाने पर, गुणनफल भी शून्य हो जायगा।"

उपर्युक्त अवतरण मे शून्य को अवरोही राशि की सीमा के रूप मे कल्पित किया गया है।

## अनन्त

किसी सख्या को शून्य से भाग देने पर जो लब्धि मिलती है, उसे भास्कर द्वितीय ने 'ख-हर' कहा है, जो कि ब्रह्मगुप्त के 'खच्छेद' ('वह राशि जिसका हर शून्य है') का पर्यायवाचक है। ख-हर के मान के विषय मे भास्कर द्वितीय कहते है

"जिस प्रकार अनन्त और अच्युत ईश्वर मे, प्रलय के समय बहुत से भूतगणो का प्रवेश होने मे अथवा सृष्टि के समय उनके निकल जाने मे, कोई विकार नही होता, उसी प्रकार इस शून्य हर वाली (ख-हर) राशि मे बहुत (बडी सख्या को) भी जोडने अथवा घटाने पर कोई परिवर्तन नही होता।"[1]

[1] भास्करीय बीजगणित, पृ० ५-६। जी० थीबो (एस्ट्रानॉमी, ऐस्ट्रालॉजी उण्ड माथेमाटिक, स्ट्रासबर्ग १८९९, पृ० ७३) के मत से यह अवतरण क्षेपक है। परन्तु इसे क्षेपक मानने का कोई कारण नहीं है क्योंकि यह अवतरण उस ग्रथ की अब तक प्राप्त होने वाली सब हस्तलिपियो में तथा उस ग्रथ की प्राचीनतम ज्ञात टीका में विद्यमान है। देखिए दत्त, पूर्वोक्त, पृ० १७४।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि भास्कर द्वितीय को ज्ञात था कि

$$\frac{\text{अ}}{0} = \infty, \text{ और } \infty + \text{क} = \infty \text{ ।}$$

गणेशदैवज्ञ के अनुसार ख-हर राशि $\frac{\text{अ}}{0}$ अनिर्णीत और निसीम अर्थात् अनन्त है, क्योकि "यह नही कहा जा सकता कि यह कितनी बडी है। यदि इस राशि मे कोई परिमित सख्या जोड या घटा दी जाय तो इसमे कोई परिवर्तन नही होता। कारण यह है कि (जोडने या घटाने मे) उनका समच्छेद करने के लिए एक दूसरे के हर से गुणा करने पर नियत राशि शून्य हो जाती है और उस शून्य को खहर मे जोडने या घटाने पर उसमे कोई परिवर्तन नही होता।"

कृष्णदैवज्ञ लिखते है

"जैसे-जैसे भाजक घटता जाता है, वैसे-वैसे लब्धि बढती जाती है। यदि भाजक परमाल्प हो जाय, तो लब्धि परमाधिक हो जायगी। परन्तु यदि यह कहा जा सके कि लब्धि इतनी है तो वह परमाधिक नही है, क्योकि उससे भी बडी सख्या होना सम्भव है। लब्धि का इयत्ताभाव ('इतनी होने' का अभाव) ही उसका परमत्व है। अतएव सिद्ध हुआ कि शून्य हर वाली राशि अनन्त है।"

$\frac{\text{अ}}{0} + \text{क} = \frac{\text{अ}}{0}$ की उपपत्ति के सम्बन्ध मे कृष्णदैवज्ञ का वही कथन है जो गणेशदैवज्ञ ने किया है। परन्तु वे उनसे एक पग आगे बढ गये है, क्योकि वे लिखते है कि

$$\frac{\text{अ}}{0} = \frac{\text{ब}}{0}$$

इस कथन की पुष्टि मे उन्होने सूर्योदय और सूर्यास्तकाल की अनन्त छाया का दृष्टात दिया है, जो कि सदैव अनन्त रहती है चाहे शकु की ऊँचाई और त्रिज्या की लम्बाई का मान कितना ही बडा क्यो न लिया जाय। " उदाहरणार्थ, यदि त्रिज्या =१२० ली जाय और शकु की ऊँचाई =१, २, ३ या ४ ली जाय, तो त्रैराशिक करने पर कि 'यदि महाशकु में महाच्छाया मिलती है, तो शकु मे क्या मिलेगा ?' छाया का मान क्रमश $\frac{१२०}{0}$, $\frac{२४०}{0}$, $\frac{३६०}{0}$ अथवा $\frac{४८०}{0}$ मिलता है। अथवा यदि शकु का प्रचलित मान, अर्थात १२ अगुल, लिया जाय और त्रिज्या को ३४३८, १२०, १०० अथवा

९० के तुल्य माना जाय तो छाया के मान क्रमश $\frac{४१२५६}{०}$, $\frac{१४४०}{०}$, $\frac{१२००}{०}$, अथवा $\frac{१०८०}{०}$ प्राप्त होंगे, जो सभी अनन्त है।"[1]

**अनिर्णीत स्वरूप**

ब्रह्मगुप्त का यह कथन अशुद्ध है कि

$$\frac{०}{०} = ०$$

भास्कर द्वितीय ने ब्रह्मगुप्त की इस अशुद्धि को शुद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार

$$\text{सीमा}_{त \to ०} \frac{अ \times त}{त} = अ ।$$

तथापि इसे व्यक्त करने मे उन्होने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह दोषपूर्ण है, क्योकि उपयुक्त पारिभाषिक शब्द के अभाव के कारण उन्होने परमाल्प राशि को शून्य कहा है। फिर भी ज्योतिष मे इस निष्कर्ष का उन्होने जो प्रयोग किया है उससे बिलकुल स्पष्ट है कि शून्य से उनका तात्पर्य उस छोटी राशि से है जिसका सीमान्तिक मान शून्य है। टेलर[2] और बापूदेव शास्त्री[3] का भी यही मत है।

भास्कर द्वितीय ने इस सम्बन्ध मे तीन उदाहरण उपस्थित किये है

मान निकालो –

(१) $$\frac{३\left(य \times ० + \frac{य \times ०}{२}\right)}{०} = ६३ ।$$

इस समीकरण का हल य=१४ दिया गया है, जो कि उस परिस्थिति मे शुद्ध होगा, जबकि हम ० को ऐसी छोटी संख्या कल्पना करें जिसकी सीमा ० हो।

[1] उपर्युक्त सब उद्धरण उन टीकाओ से लिये गये है। कोलब्रुक (पूर्वोक्त ग्रथ) ने भी उन्हे उद्धृत किया है।

[2] टेलर की लीलावती, बम्बई १८१६, पृ० २६।

[3] उनका बीजगणित, भाग १, बनारस, १८७५, पृ० १७६ आदि।

(२) $\left\{ \left( \frac{य}{०} + य - ९ \right)^2 + \left( \frac{य}{०} + य - ० \right) \right\} \times ० = ९०,$

जिसका हल य=९ दिया गया है।

(३) $\left[ \left\{ \left( य + \frac{य}{२} \right) \times ० \right\}^2 + २ \left\{ \left( य + \frac{य}{२} \right) \times ० \right\} \right] - ० = १५,$

जिसका हल य=२ दिया गया है।[1]

भास्कर द्वितीय का कथन कि

$$\frac{अ}{०} \times ० = अ,$$

बिल्कुल शुद्ध नही है, क्योकि यह स्वरूप वस्तुत अनिर्णीत है और इसका मान सदैव अ नही होगा। परन्तु तो भी इतने प्राचीन काल मे ० को एक अर्थ देने का उनका प्रयत्न तथा इस प्रश्न का उनका आंशिक हल अत्यन्त सराहनीय है, जबकि हम देखते है कि यूरोप के गणितज्ञो ने उन्नीसवी शताब्दी के मध्यकाल तक इस प्रकार की अशुद्धियाँ की है।[2]

---

[1] इस उदाहरण और पिछले उदाहरण के हल अशुद्ध है, क्योकि $०^2$ को ० के बराबर मान लिया गया है।

[2] मार्टिन ओह्म (१८२८ ई०) का कथन है "यदि 'अ' शून्य न हो, परन्तु 'ब' शून्य हो, तो $\frac{अ}{ब}$ का कोई अर्थ नहीं है", क्योकि लब्धि को "शून्य मे गुणा करने पर गुणनफल शून्य ही होगा न कि 'अ', जब तक कि 'अ' स्वयं शून्य न हो।" लेरबुख डेर् नीडेर्न अनालिसिस (जर्मन में), जिल्द १, बर्लिन, १८२८, पृ० ११०, ११२।

# ग्रन्थानुक्रमणिका


१ **अथर्व ज्योतिष** भगवद्दत्त द्वारा सपादित, लाहौर, १९२४।

२ **आपस्तम्ब-शुल्ब-सूत्र** आपस्तम्ब (ल० ४०० ई० पू०) कृत। कपर्दिस्वामि, करविन्द, तथा सुन्दरराज कृत टीकाओ सहित, डी० श्रीनिवासाचार्य और वी० एस० नरसिंहाचार्य द्वारा सपादित, यूनिवर्सिटी ऑव मैसूर संस्कृत ग्रंथावलि मे प्रकाशित, १९३१, ए० व्युर्क कृत जर्मन अनुवाद, व्याख्यात्मक तथा आलोचनात्मक टिप्पणियो के सहित, जाइट्श्रिफ्ट डेर डायशेन मॉरगेनलेंडिशेन् गेसेल्शाफ्ट, जिल्द ५५, १९०२, पृ० ५४३-५९१, जिल्द ५६, १९०३, पृ० ३२७-३९१ मे प्रकाशित।

३ **आर्च ज्योतिष** सुधाकर द्विवेदी द्वारा स्वविरचित टीका के साथ प्रकाशित, बनारस, १९०६।

४ **आर्यभटीय** आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) कृत। परमेश्वर (१४३० ई०) कृत भटदीपिका टीका सहित, एच० कर्न द्वारा सपादित, लैदन, १८७४, हिन्दी अनुवाद सहित, उदय नारायण सिंह द्वारा सपादित, मुजफ्फरपुर, १९०६, नीलकठ (१५०० ई०) कृत महाभाष्य नामक टीका सहित, के० साम्बशिव शास्त्री द्वारा सपादित (भाग १, गणितपाद, त्रिवेन्द्रम, १९३०, भाग २, कालक्रियापाद, त्रिवेन्द्रम, १९३१, भाग ३, मुद्रणालयस्थ)। अगरेजी अनुवाद पी० सी० सेनगुप्त कृत ("दि आर्यभटीयम्", जर्नल ऑव दि डिपार्टमेण्ट आव लेटर्स इन दि यूनिवर्सिटी ऑव कलकत्ता, जिल्द १६, १९२७), डब्ल्यू० ई० क्लार्क कृत ("दि आर्यभटीय ऑव आर्यभट", शिकागो, १९३०)। गणित-पाद नामक द्वितीय अध्याय का फ्रेच अनुवाद एल० रोड कृत (जर्नल एशियाटिक, जिल्द १३ (७), १८७८, पुनर्मुद्रित, पेरिस, १८७९), और अगरेजी अनुवाद जी० आर० के कृत ("नोट्स

ऑन इडियन मैथेमेटिक्स, न० २—आर्यभट", जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी आव बगाल, जिल्द ४, १९०८)। हस्तलिखित टीकाएँ (१) भास्कर प्रथम (६२९ ई०) कृत, (२) सूर्यदेव यज्वा (१२ वी शताब्दी) कृत भटप्रकाशिका।

५ **करण-कुतूहल** भास्कर द्वितीय (११५० ई०) कृत। सुमति हर्ष कृत टीका सहित, माधव शास्त्री द्वारा सपादित, बम्बई, १९०१।

६ **करण-पद्धति** पुतुमन सोमयाजि (१४३१ ई०) कृत। (हस्तलिपि)

७ **कात्यायन-शुल्व-सूत्र** कात्यायन (ल ४०० ई० पू०) कृत। व्याख्यात्मक टिप्पणियो सहित, विद्याधर शर्मा द्वारा सपादित, बनारस, १९२८।

८ **खण्ड-खाद्यक** ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) कृत। आमराज (ल० १२५० ई०) कृत टीका सहित, बबुआ मिश्र द्वारा सपादित, कलकत्ता, १९२५। अगरेजी अनुवाद, व्याख्यात्मक तथा आलोचनात्मक टिप्पणियो सहित, पी० सी० सेनगुप्त द्वारा सपादित, कलकत्ता, १९३४। हस्तलिखित टीकाएँ (१) पृथूदकस्वामी (८६४ ई०) कृत, (२) वरुण कृत, (३) भट्टोत्पल कृत।

९ **गणित-कौमुदी** नारायण (१३५६ ई०) कृत। (हस्तलिपि)

१० **गणित-तिलक** श्रीपति (१०३९ ई०) कृत। सिंहतिलक सूरि (ल १२७५ ई०) कृत टीका सहित, एच० आर० कापदीआ द्वारा सपादित (गायकवाड ओरियटल सीरीज न० ७८, बडोदा, १९३७)।

११ **गणित-मजरी** ढुढिराज (१५५८ ई०) सुत गणेश कृत। (हस्तलिपि)

१२ **गणित-सार-सग्रह** महावीर (८५० ई०) कृत। अँगरेजी अनुवाद और टिप्पणियो सहित, एम० रगाचार्य द्वारा सपादित, मद्रास, १९१२।

१३ **ग्रहलाघव** गणेशदैवज्ञ (ल १५४५ ई०) कृत। मल्लारि, विश्वनाथ, तथा स्वविरचित टीकाओ सहित, सुधाकर द्विवेदी द्वारा सपादित, द्वितीयावृत्ति, बम्बई, १९२५।

१४ **तत्र-सग्रह** नीलकठ (१५०० ई०) कृत। सस्कृत टीका, हस्तलिखित।

१५ **त्रिशतिका** श्रीधर (७५० ई०) कृत। सुधाकर द्विवेदी द्वारा सपादित, बनारस, १८९९। एन० रामानुजाचार्य और जी० आर० के ने

मूल के प्रमुख सूत्रो का अगरेजी अनुवाद, टिप्पणियो तथा आलोचनाओ के माथ प्रकाशित किया है ('त्रिशतिका ऑव श्रीधराचार्य', विब्लियोथेका मैथेमेटिका, जिल्द १३ (३), १९१२-१३, पृ० २०३ इत्यादि) द्विवेदी के सस्करण का पाठ स्पष्टत अपूर्ण है। हमारे सग्रह की हस्तलिपियो मे, यद्यपि वे अपूर्ण है, सूत्रो और उदाहरणो की सख्या कुछ अधिक है।

१६ **ध्यानग्रहोपदेश** ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) कृत। सुधाकर द्विवेदी द्वारा सपादित तथा उनके ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त मे परिशिष्ट के रूप मे प्रकाशित।

१७ **पच-सिद्धान्तिका** वराहमिहिर (ल ५५० ई०) कृत। सस्कृत टीका, अगरेजी अनुवाद और आलोचनात्मक टिप्पणियो सहित, जी० थीबो और सुधाकर द्विवेदी द्वारा सपादित, बनारस, १८८९।

१८ **पाटीसार** मुनीश्वर (जन्म १६०३ ई०) कृत। (हस्तलिपि)

१९ **वक्षाली हस्तलिपि**, जी० आर० के द्वारा सपादित, (वक्षाली मैन्युस्क्रिप्ट-ए स्टडी इन मेडीवल मैथेमेटिक्स, भाग १ और २, कलकत्ता, १९२७, भाग ३, दिल्ली, १९३३)।

२० **बीजगणित** ज्ञानराज (१५०३ ई०) कृत। हस्तलिपि।

२१ **बीजगणित** नारायण (१३५० ई०) कृत। हस्तलिपि।

२२ **बीजगणित** भास्कर द्वितीय (११५० ई०) कृत। सुधाकर द्विवेदी द्वारा सपादित और मुरलीधर झा द्वारा सशोधित, बनारस, १९२७, कृष्णदैवज्ञ (ल १६०० ई०) कृत नवाकुर टीका सहित, वी० जी० आपटे द्वारा सपादित (आनदाश्रम सस्कृत ग्रथावलि, पूना १९३०)। एच० टी० कोलब्रुक कृत अँगरेजी अनुवाद ('अलजबरा विद अरिथमेटिक एण्ड मेन्स्यूरेशन फ्राम दि सस्कृत ऑव ब्रह्मगुप्त एण्ड भास्कर', लदन, १८१७)। अन्य टीकाओ की हस्तलिपियाँ (१) रामकृष्ण (ल १६४८ ई०) कृत बीजप्रबोध, (२) सूर्यदास (जन्म १५०८ ई०) कृत।

इस पुस्तक में भास्कर द्वितीय की बीजगणित के उल्लेख मुरलीधर झा के सशोधित सस्करण मे दिये गये है।

२३ **बृहज्जातक** वराहमिहिर (ल ५५० ई०) कृत। भट्टोत्पल (९६६ ई०) की टीका सहित, रसिक मोहन चट्टोपाध्याय द्वारा सपादित,

कलकत्ता, १३०० विक्रमी, सीताराम झा द्वारा सपादित, बनारस, १९२२।

२४ **बृहत्सहिता** वराहमिहिर (ल ५५० ई०) कृत। एच० कर्न द्वारा सपादित कलकत्ता, १८६५, भट्टोत्पल कृत टीका सहित, सुधाकर द्विवेदी द्वारा सपादित (विजयानगरम सस्कृत ग्रथावलि, जिल्द १ और २, बनारस, १८९५, १८९७)। अगरेजी अनुवाद, एच० कर्न कृत (उनके ग्रथो का सग्रह देखो)।

२५ **ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त** ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) कृत। सुधाकर द्विवेदी द्वारा अपनी सस्कृत टीका के साथ सपादित, बनारस, १९०२। अध्याय १२ और १३ का, जो केवल अकगणित और बीजगणित से सबन्ध रखते है, एच० टी० कोलब्रुक ने अगरेजी मे अनुवाद किया है (अलजेबरा विद अरिथमेटिक एण्ड मेन्स्यूरेशन इत्यादि)। पृथूदक स्वामि (८६० ई०) कृत टीका, हस्तलिखित (अपूर्ण)।

२६ **बौधायन-शुल्ब-सूत्र** बौधायन (ल ८०० ई० पू०) कृत। अगरेजी अनुवाद, आलोचनात्मक टिप्पणियो तथा द्वारकानाथ यज्वा कृत टीका के उद्धरणो के सहित, जी० थीबो द्वारा सपादित (पडित, प्राचीन श्रेणी, जिल्द ९ और १०, १८७४-५, नवीन श्रेणी, जिल्द १, १८७७)। इस ग्रथ का मल डब्ल्यू० कैलेण्ड के बौधायन-शुल्व-सूत्र (तीन जिल्दो मे, कलकत्ता, १९०४, १९०७, १९१३) मे (३० वे अध्याय के रूप मे) उपलब्ध है।

२७ **महाभास्करीय** भास्कर प्रथम (६२९ ई०) कृत। हस्तलिखित टीकाये (१) प्रयोग-रचना, (२) परमेश्वर (१४३०ई०) कृत।

२८ **महासिद्धान्त** आर्यभट द्वितीय (ल० ९५० ई०) कृत। सुधाकर द्विवेदी द्वारा स्वविरचित टीका के साथ सपादित, बनारस, १९१०।

२९ **मानव-शुल्व-सूत्र** मनुप्रणीत, हस्तलिखित। अँगरेजी अनुवाद एन० के० मजूमदार कृत (जर्नल आव दि डिपार्टमेन्ट ऑव लेटर्स इन दि यूनिवर्सिटी ऑव कलकत्ता, जिल्द ८ १९२२ मे प्रकाशित)।

३० **लघुभास्करीय** भास्कर प्रथम (६२९ ई०) कृत। शकरनारायण (८६९ ई०) कृत टीका, हस्तलिखित।

३१ **लघुमानस** मञ्जुल (९३२ ई०) कृत। परमेश्वर (१४३० ई०) की टीका, हस्तलिखित।

२ **लीलावती** भास्कर द्वितीय (११५० ई०) कृत। टिप्पणियो सहित, सुधाकर द्विवेदी द्वारा सपादित, बनारस, १९१०। अँगरेजी अनुवाद एच० टी० कोलब्रुक कृत (अलजेबरा विद अरिथमेटिक ऐण्ड मेन्स्यूरेशन इत्यादि), जे० टेलर कृत (लीलावती, बम्बई, १८१६)। कोलब्रुक के अनुवाद को हाराणचन्द्र बनर्जी ने आलोचनात्मक टिप्पणियो के साथ पुन सपादित किया है (लीलावती, द्वितीय सस्करण, कलकत्ता, १९२७)। हस्तलिखित टीकाएँ गणेशदैवज्ञ (१५४५ ई०) कृत बुद्धि-विलासिनी, (२) गगाधर (१४३२ ई०) कृत गणितामृतसागरी, (३) रामकृष्ण (१३३९ ई०) कृत गणितामृतलहरी, (४) राम-कृष्णदेव कृत मनोरजन, (५) सूर्यदास (१५४१ ई०) कृत गणिता-मृतकूपिका, (६) लक्ष्मीदास (१५०० ई०) कृत चिन्तामणि, (७) मुनीश्वर (१६०८ ई०) कृत निसृष्टदूती।

इस पुस्तक मे लीलावती के उल्लेख द्विवेदी के सस्करण मे दिये गये है।

३३ **शिष्य-धी-वृद्धिद** लल्ल कृत। सुधाकर द्विवेदी द्वारा सपादित, बनारस, १८८६। मल्लिकार्जुन सूरि (११७९ ई०) कृत टीका, हस्तलिखित।

३४ **सद्रत्नमाला** शकरवर्मन् कृत। (हस्तलिपि)

३५ **सिद्धान्त-तत्व-विवेक** कमलाकर (१६५८) कृत। ग्रथकार कृत शेषवासना सहित, सुधाकर द्विवेदी द्वारा सपादित, बनारस, १८८५।

३६ **सिद्धान्त-शिरोमणि** भास्कर द्वितीय (११५० ई०) कृत। ग्रथकार कृत टीका (वासना-भाष्य) सहित, बापूदेव शास्त्री द्वारा सपादित, बनारस, १८६६, नृसिंह (१६२१ ई०) कृत वासनावार्तिक और मुनीश्वर (१६३५ ई०) कृत मरीचि टीकाओ सहित, मुरलीधर झा द्वारा सपादित (जिल्द १, गणिताध्याय, अध्याय १, बनारस, १९१७), स्वविरचित सस्कृत और हिन्दी टीकाओ सहित, गिरिजा-प्रसाद द्विवेदी द्वारा सपादित जिल्द १ और २ (लखनऊ, १९११,

१९२६)। गोलाध्याय के मूल श्लोकों का अँगरेजी अनुवाद, एल० विल्किसन कृत, कलकत्ता, १८६१।

३७ **सिद्धान्तशेखर** श्रीपति (१०३९ ई०) कृत। मक्किभट्ट की टीका (अध्याय १ से ४) तथा बबुआ मिश्र की टीका (अध्याय ४ से १०) सहित, बबुआ मिश्र द्वारा सपादित (भाग १, कलकत्ता, १९३२)।

३८ **सूर्य-सिद्धान्त** रगनाथ की सस्कृत टीका सहित, एफ० ई० हाल और बापूदेव शास्त्री द्वारा सपादित, कलकत्ता, १८९१, सुधाकर द्विवेदी द्वारा स्वविरचित सस्कृत टीका के साथ सपादित, कलकत्ता, १९०९-१०। अगरेजी अनुवाद तथा आलोचनात्मक टिप्पणियो सहित, ई० बर्जेस और डब्ल्यू डी० ह्विटनी द्वारा सपादित, बगला अनुवाद तथा आलोचनात्मक टिप्पणियो सहित, विज्ञानानन्द स्वामी द्वारा सपादित।

---